आलोचना
की
पहली किताब



नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली

आलोचना की पहली किताब

विष्णु खरे

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
२३, दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२

शाखाएं
चौड़ा रास्ता, जयपुर
३४, नेताजी सुभाष मार्ग, इलाहाबाद-३

मूल्य : ४२.००

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, २३, दरियागंज नयी दिल्ली-११०००२ द्वारा प्रकाशित / प्रथम संस्करण १९८३ / सर्वाधिकार विष्णु खरे / सरस्वती प्रिंटिंग प्रेस, मौजपुर, दिल्ली ११००५३ में मुद्रित। [148-9 11-183/1N]

ALOCHANA KI PAHLI KITAB (Literary Criticism) by Vishnu Khare
Rs 42 00

बेदार आलोचक और बेहतर इन्सान

मन्मथ

की स्मृति को

एक था 'अह्द में अपने, पर परागंद मिज़ाज
अपनी आँखों में न आया कोई सानी उस की
बात की तर्ज़ को देखो, तो कोई जादू था
पर मिली ख़ाक में क्या सह्र बयानी उस की
सरगुज़श्त अपनी, किस अन्दोह से, शब कहता था
सो गये तुम, न सुनी आह, कहानी उस की
मर्सिये दिल के, कई कह के दिये लोगों को
शह्र-ए-दिल्ली में है, सब पास निशानी उस की
अब गये उस के, जुज़ अफ़सोस नहीं कुछ हासिल
हैफ़ सद हैफ़ कि कुछ क़द्र न जानी उस की

किताब के बारे में

यद्यपि समीक्षात्मक और अन्य प्रकार के लेख लिखते हुए मुझे सोलह वर्ष से कुछ अधिक होने को आ रहे हैं लेकिन यह पुस्तक वाकई आलोचना की मेरी पहली किताब है जिसमें कविता तथा कवियो पर लिखे गए छब्बीस लेख हैं और अधिकाश समीक्षात्मक हैं। समीक्षाओ के बारे मे यह आम तौर पर माना जाता है, और उसमे कुछ सचाई भी है कि उनकी आयु बहुत लबी नही होती। किंतु मुझे पिछले कई वर्षों से यह देखकर आश्चर्य होता रहा कि मेरे अनेक मित्र, जिनकी राय की मैं कद्र करता हू, बराबर मुझसे इन्हे पुस्तकाकार प्रकाशित करवाने का आग्रह करते रहे। हिंदी की दुनिया मे घूमते हुए और कई कवियो तथा आलोचको से चर्चा के दौरान एक विस्मयकारी तथ्य यह खुला कि इन समीक्षात्मक लेखो को लोग न सिर्फ याद रखे हुए थे बल्कि उन्हें इकट्ठा अपने पास रखना चाहते थे। नितात साहित्येतर कारणा से ही सही लेकिन मेरी पत्नी कुमुद भी यह चाहती थी कि मेरी यह पुस्तक आ ही जाए। इन सारे दबावो के बावजूद शायद मैं यह पुस्तक प्रकाशित न करवाता, लेकिन मैंने यह पाया कि पिछले तीन चार वर्षों मे जो कवि तथा काव्य-सकलन सामने आए हैं उन्हे लेकर एक नई, स्वतत्र पुस्तक तैयार करनी चाहिए। उसके लिए यह जरूरी समझा गया कि अब तक मैंने जो कविता पर लिखा है पहले उसे इकट्ठा प्रकाशित कर मैं उससे मुक्त हो जाऊ। परिणाम है यह मेरी आलोचना की पहली किताब।

इस पुस्तक मे समाविष्ट सामग्री निम्नाकित कालक्रम म लिखी गई/प्रकाशित हुई है किंतु चूकि 'आलोचना' का प्रकाशन प्राय हमेशा विलब से होता रहा है इसलिए यह समझकर चला जाए कि उसके अका म प्रकाशित लेख ठीक उसी अवधि मे या उसमे पहले न लिखे गए हो जो उनपर छपी हुई है—सभव है वे उसके कुछ दिना बाद भी लिखे गए हो

उदासीन परिवेश और आलोचना तथा रचना के साथ सहज संबंध ('पूर्वग्रह', भोपाल, के प्रकाशन के पांच वर्ष पूरे होने के अवसर पर एक परिसंवाद के लिए सितंबर १९७९ में लिखित, इनमें से पहला सीधा इसी पुस्तक में प्रकाशित हो रहा है जबकि दूसरा 'पूर्वग्रह' के ४९-५० वें अंक में आ चुका है), संभावना, वय संधि तथा विकास ('वयम्', रतलाम, के दो अंकों में अक्टूबर १९६६-जनवरी १९६७ के बीच प्रकाशित), 'अंधेरे में' तथा मुक्तिबोध की अन्य कविताएं ('आलोचना', जुलाई-सितंबर १९६८), जनता का कवि (१९८२ में लिखा गया, 'आलोचना' जनवरी-जून १९८१ में प्रकाशित), उत्तरछायावादी तलछट का अंत और जिंदगी का दाल और कविता की फटी पतंग ('आलोचना', अक्टूबर-दिसंबर १९७०) आदतन लिखते रहने की नियति ('आलोचना', अप्रैल-जून १९६६), खत्म नहीं होती हरी दूब ('आलोचना', अक्टूबर-दिसंबर १९६६), रघुवीर सहाय पर एक अधूरी टिप्पणी (१९७५-७६ में लिखी गई, पहली बार इसी पुस्तक में प्रकाशित), मुझे एक मनुष्य की तरह पढ़ो (१९८२ में लिखा, 'आलोचना', जनवरी-जून १९८१ में प्रकाशित), फर्क पड़ता है ('पूर्वग्रह', जुलाई-अक्टूबर १९८०), मेरे सामने समस्या है ('आलोचना', अप्रैल-जून १९६८), अप्रासंगिकता के कगार पर ('आलोचना', जनवरी-मार्च १९७०), चीख की भाषा भी हुल्लड़ हो गई ('आलोचना', जनवरी-मार्च १९६६), घुसे हुए शब्दों का एक विराट् मलबा ('आलोचना', अक्टूबर-दिसंबर १९६६), चीजें लगातार मेरे हाथ से फिसल रही हैं ('आलोचना', अक्टूबर-दिसंबर १९६८), लीलाधर जगूड़ी की कविता : कुछ नोट्स ('प्रतिपक्ष', १९७५), नए हाथ ('आवेश', अगस्त १९७२), सड़क से हटकर चलते हुए (१९८२ में लिखा, 'आलोचना', जनवरी-जून १९८१ में प्रकाशित), दोस्तों के बीच (अवधेश कुमार के कविता-संग्रह 'जिप्सी लड़की और अन्य कविताएं' में, १९८०), भारतीय कवि होने का तनाव (सीताकांत महापात्र के हिंदी अनुवाद 'अपनी स्मृति की धरती' में, १९८०), आज की भारतीय, अंग्रेजी कविता ('समकालीन भारतीय साहित्य', अक्टूबर दिसंबर १९८०) तथा देखो देखो आठवें दशक का उजाड़ (पूर्वग्रह', १९७९)।

लेखों के क्रम के पीछे दृष्टि यह रही है कि पहले दो लेख आलोचना-कर्म के बारे में है और लगभग इस पुस्तक की भूमिका का काम निबाहते हैं, उसके बाद तीन लेख मेरी प्रारंभिक समीक्षाएं है, फिर सत्रह लेख मुक्तिबोध से लेकर विनोद भारद्वाज तक उल्लेख्य कवियों/संकलनों को समेटते है, अगले दो भूमिकाएं जैसे है, और अंत में दो लंबे लेख हैं जो दो भिन्न परिदृश्यों पर नजर डालते हैं। पुस्तक में विभाजन-पृष्ठ नहीं रखे गए है किंतु लेख-सूची में इस अप्रत्यक्ष विभाजन की ओर ध्यान दिलाने का प्रयत्न किया गया है। लेखों में

कहीं-कहीं एकाध शब्द या वाक्य निकाला, जोडा या बदला गया है लेकिन इससे स्थापनाओ मे कोई भी फर्क नही आया है।

प्रकाशित सामग्री के प्रयोग के लिए लेखक उपरोक्त पत्र पत्रिकाओ के सपादको प्रकाशको का तथा उद्धरणो के लिए कवियो का आभारी है। वरिष्ठ, समवयस्क तथा कनिष्ठ इतने मित्रो ने इस पुस्तक के लिए प्रोत्साहित किया है कि उन सबके नाम यहा देना सभव नही है किंतु मैं उनका बहुत ऋणी हू। श्री मदन तुल्यानी तथा कु० मधुमालती ने पाडुलिपि तैयार करने मे बडी सहायता की जिसका मैं कृतज्ञ हू। श्री कन्हैयालाल मलिक ने जिस स्नेह, तत्परता तथा सुरुचि से यह पुस्तक प्रकाशित की है उसके लिए आभार प्रदर्शन शब्दो मे कर पाना कठिन है।

विष्णु खरे

उदासीन परिवेश और आलोचना

प्रश्न यह है कि क्या आज हिंदी का साहित्यिक परिवेश एक है ? इधर पिछले कुछ दशकों से साहित्यिक परिवेश की एकता लगातार टूटती गई है। हिंदी में, यदि देखें तो, छायावाद युग से ही दो अथवा दो से अधिक साहित्यिक परिवेश थे और उसके बाद प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नई कविता, आंचलिकता, अकहानी आदि अनेक नए आंदोलन नए-नए 'परिवेश' लेकर आते चले गये। कुछ पाश्चात्य साहित्यों के विषय में तो यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि एक बड़े, सर्वव्यापी परिवेश के नीचे अनेक छोटे परिवेश हैं, किंतु मैं नहीं समझता कि आज भी हिंदी साहित्य में साहित्य की किन्हीं मूलभूत शर्तों को सभी के द्वारा मान लिया गया है और फिर उनके द्वारा सीमित किए हुए दायरे में छोटे-बड़े विभिन्न आंदोलन चल रहे हैं। हिंदी साहित्य में 'एकता' होनी चाहिए या नहीं यह एक अलग बहस है, किंतु यह स्पष्ट है कि अधिकांश महत्त्वपूर्ण कवियों, उपन्यासकारों तथा आलोचकों में मूल मुद्दों को ही लेकर गंभीर मत-भेद है। यह तो संभव है कि आज हिंदी में हासिल विभिन्न परिवेशों में से कोई एक बाकी दूसरों पर हावी हो—उसे प्रमुख परिवेश तो कहा जा सकता है किंतु एकमात्र परिवेश नहीं।

अब यदि यह मान लिया जाए कि हिंदी में साहित्यिक परिवेश एक नहीं है तो दिया गया विषय उलझन-भरा हो जाता है, क्योंकि तब प्रश्न उठेगा कि क्या सभी परिवेश 'उदासीन' हैं ? किंतु ऐसा हो ही नहीं सकता—यदि साहित्यिक परिवेश है तो वह अपने आप बन नहीं गया होगा—परिवेश है तो उदासीनता नहीं है, दूसरे साहित्यिक परिवेशों के प्रति वह उदासीन हो यह जरूर संभव है। साहित्यिक परिवेश के लिए साहित्य होना तो अपरिहार्य है किंतु सिर्फ कृतियां परिवेश का निर्माण नहीं करतीं—उनके लिए पाठक—विवेकशील

पाठक यानी अंत में विवेकशील आलोचक की आवश्यकता होती है। जब किसी कृति अथवा किन्हीं कृतियों का प्रभाव पड़ता है तो वह प्रभाव ही पाठकों और आलोचकों द्वारा सराहना के रूप में कृतियों को लौटाया जाता है और उसी बिंदु से मूल्यों तथा परिवेश का जन्म होता है। यदि कुछ अरसे के बाद वह परिवेश इन पिछली कृतियों से उदासीन हो जाता लगता है तो वह वास्तव में उदासीन नहीं होता—वह अगली कृतियों के प्रति उत्सुक हो जाता है—यानी या तो परिवेश का विकास होता है या परिवेश आमूल बदल जाता है। दरअसल उदासीन परिवेश वह वृहत्तर परिवेश ही होता है जिसे साहित्य, कला आदि के किसी भी परिवेश में कोई दिलचस्पी नहीं होती और जिसकी उदासीनता का रोना प्रत्येक पुराना रचनाकार रोता था—अब पासा पलट गया है, अब रचनाकार उस घनघोर परिवेश के प्रति उदासीन है और आलोचना तो इस कदर अदरूनी तथा तकनीकी मामला हो चुका है कि उसे उस 'फिलिस्तीन' परिवेश का ख्याल भी नहीं आता—एक 'साहित्यिक' उपन्यासकार का भले ही सपना हो कि वह सभी गुलशन नंदा की तरह बिके, आलोचना इस भ्रम में नहीं है कि उसे कभी जनार्दन ठाकुर की कृतियों की तरह हाथों-हाथ लिया जायेगा।

यह सिद्ध करने के लिए ज्यादा मेहनत की आवश्यकता नहीं कि हिंदी में आज एकाधिक साहित्यिक परिवेश हैं और एकाधिक आलोचनात्मक परिवेश भी हैं। ये परिवेश कहीं-कहीं एक-दूसरे को 'ओवरलैप' भी करते हैं, नई कविता के प्रसार का एक परिवेश है, मुक्तिबोध की खोज के बाद की कविता का दूसरा परिवेश और इसमें भी अनेक उप-परिवेश हैं। उपन्यासों में प्रेमचन्द युग का परिवेश, फिर जैनेन्द्र-वात्स्यायन आदि का, और कहानियों में निर्मल वर्मा, राकेश, यादव आदि की कहानियों से बने कहीं मिले-जुले और कहीं अलग परिवेश, और काशीनाथ सिंह, ज्ञानरंजन आदि की कहानियों से बनने वाला अलग परिवेश। अभी जब हिंदी में पूरी तरह से आधुनिकता, पश्चात्-आधुनिकता आदि को ही पूरी तरह न तो अभिव्यक्ति मिली है और न मान्यता, एक परिवेश की बात करना भोले-भाले अथवा भावुक लोगों के लिए आसान तथा आवश्यक हो, भारत सरीखे अनेक मानों में विकासशील देश में थोड़े से भी मस्तिष्क वाले के लिए वैसा करना कठिन है।

उदासीन विशेषण सापेक्ष है—जिसे हम अच्छा साहित्य या अच्छी कृति मानते हों उसके प्रति दिलचस्पी के अभाव को हम उदासीनता तो कह ही सकते हैं, आगे बढ़कर अज्ञान, मूर्खता या असांस्कृतिकता भी कह सकते हैं। यह आम शिकायत है कि नई कला, नए साहित्य, नए संगीत, नए स्थापत्य के प्रति अधिकांश लोग उदासीन हैं, लेकिन उदासीनता यहां एक तटस्थ उदासीनता

नही है, वह खासी सोची-विचारी उदासीनता है, दरअसल वह क्रोध-भरी, तग आई उपेक्षा है। मुशायरो, कवि सम्मेलनो, फिल्मो या पजाबी नाटको आदि के सामने उदासीन परिवेश की कोई समस्या नही है—यदि उच्चतर कलाए एक किस्म की स्नॉबरी से काम लेती हैं तो सामान्य आदमी उनके प्रति और भी भयावह ढग से पेश आता है।

किंतु केवल साहित्यिक परिवेश की ही बात करें। आज हम हिंदी मे सबसे पहले एक विराट दुनिया पाते है जो हिंदी साहित्य को पढने-पढाने वालो की दुनिया है—हजारो 'अनुभवी' प्राध्यापक लाखो कच्चे विद्यार्थियो को साहित्य-शिक्षा दे रहे हैं। प्रत्येक प्राध्यापक पढाते समय एक आलोचक होता है। हमारे प्राध्यापक किस तरह का परिवेश निर्मित कर पाये है यह छिपा नही है। उसके क्या कारण हैं—उनमे साहित्यकार तथा आलोचक भी आते है—यह भी हमे कमोवेश मालूम है। हिंदी के प्राध्यापको की एक अक्षौहिणी पिछले पचासो वर्षों से जो परिवेश बना पाई है वह आज साहित्य के पठन-पाठन को कहा ले आया है, यह बताने की बात नही। किंतु भारत जैसे देश मे, जहा निरक्षरता जाने कितने प्रतिशत है, महाविद्यालयो मे पढने वाला विद्यार्थी भी 'एलीट' है, उसे पढाने वाले तो 'एलीट' हुए ही। स्पष्ट है कि 'एलीट' का परिवेश—एलीट द्वारा निर्मित परिवेश—परिवेश नही हो सकता। भारत मे लिखाई-पढाई अभी भी 'एलीट' धर्म है—आम साहित्यकार आम आदमी से ऊपर है और श्रेष्ठ साहित्यकार, आज का आधुनिक साहित्यकार, तो उससे बहुत दूर है। ऐसे साहित्य की समीक्षा को जो भी सदर्भ इस्तेमाल करने होंगे वे लाख न चाहने पर भी 'एलीटिस्ट' होगे—दरअसल सारी उच्चस्तरीय भाषा आम भारतीय के लिए 'जैबरवॉकी' या 'जिबरिश' है। ऐसी भाषा और ऐसा साहित्य गैर-साहित्यिक परिवेश की उदासीनता को कैसे साहित्यिक दिलचस्पी मे बदल सकते है जबकि उसके लिए पूरे समाज को मौलिक रूप मे बदलना हो? यह तो बात आम समाज की हुई। कला की विभिन्न विधाओ मे काम कर रहे 'एलीट' समूह भी कैसे उनके समूह की दूसरे समूहो के प्रति उदासीनता को तोडेंगे—चित्रकला की आलोचना कैसे अपने काम के प्रति समर्पित कलाकार की सगीत के प्रति उदासीनता को तोडेगी—और क्यो? इजीनियर, डॉक्टर, वकील आदि शमशेर की कविता किस आलोचना की कोशिशो के कारण पढेंगे? यह स्वर्ण युग असभव नही है—कुछ पूजीवादी देशो मे यह सभव हुआ है और प्राय सारे समाजवादी देशो मे भी इसे प्राप्त किया गया है—लेकिन इसके लिए जो प्रयत्न किये गए हैं या मूल्य चुकाने पड़े हैं वे अभी भारत मे सिर्फ सोचे जा रहे है या सोचे भी जा रहे हैं कि नहीं?

ऊपर कहा गया है कि हिंदी साहित्य मे अभी अनेक परिवेश है। यद्यपि

परिवेश मोटे तौर पर किसी-न-किसी तरह से मार्क्सवाद से प्रभावित है। अब जहा तक मार्क्सवाद से प्रभावित साहित्य तथा आलोचना का ताल्लुक है वहा उदासीनता का कोई नामोनिशान नजर नही आता। वहा साहित्यकारो मे तथा आलोचको मे तथा परस्पर दोनो मे 'अहोरूप अहोध्वनि' से कान फटे जा रहे हैं। उन्होने कितना मार्क्सवाद समझा है, उनका साहित्य कितना जनता का है, उनका साहित्य कितना साहित्य है, ये प्रश्न बेकार है। प्रमुख यह है कि वहा उदासीनता नही है, उदासीनता की यह अनुपस्थिति उन्हे जनता से कितना जोड पाई है, क्रांति को कितना करीब ले आई है, उसने आम आदमी की साहित्य के प्रति—मुक्तिबोध के प्रति, नेरूदा के प्रति, शमशेर के प्रति, मायकोव्स्की, गोर्की तथा तोल्स्तोय के प्रति—उदासीनता को कितना कम किया है यह नापने का पैमाना कम-से-कम मेरे पास तो नही है।

विभिन्न साहित्यिक परिवेशो मे भी—यानी वैचारिक रूप से अलग-अलग परिवेशो मे भी—उदासीनता की स्थिति नही है, खासकर प्रगतिशील या मार्क्सवादी आलोचको ने सदा वास्तविक या काल्पनिक गैर-प्रगतिशील साहित्य मे खासी दिलचस्पी दिखाई है क्योकि उसमें उन्हे गलत या सही भयानक खतरे नजर आते हैं। मार्क्सवादी आलोचना की पहली शर्त है गैर-मार्क्सवादी आलोचना तथा लेखन पर प्रहार करना—कभी-कभी इसे आप अच्छे साहित्य के प्रति 'उदासीनता' की एक अतिवादी परिणति कह सकते है। खैर, प्रगतिशील गैर-प्रगतिशीलो पर प्रहार करें और प्रतिक्रियावादी प्रगतिशीलो पर, यह तो समझ मे आता है किंतु हम रोज देख रहे हैं कि प्रगतिशील भी अपने बीच मे लट्ठम-लट्ठा कर रहे हैं और प्रतिक्रियावादियो मे चूंकि कई विचारधाराए है इसलिए वहा तो परिवेश की उदासीनता की गुजाइश ही नही है।

एकाध बार आलोचना भले ही किसी की उदासीनता को सरोकार म बदल दे—उदासीन परिवेशो को कुतूहलमय समाज अथवा समाजो मे बदलना एक ऐसा काम है जो आलोचना तथा साहित्य को सौंपना इन दोनो का अपमान, मखौल तथा अन्याय है। यदि कलाए समाज के क्षीरसागर से निकला निकष है तो मामूली खारे जल से भरे समुद्र को दूध के समदर मे बदलने वाली ताकतें उनकी नही हो सकती। मेरा अनुभव है कि आलोचना बहुत कम लोगो को बदल सकती है। जहा वह स्वीकृत होती है वहा उसकी जमीन अक्सर पहले से ही बनी होती है। मैंने अपने पिछले कुछ वर्ष अज्ञेय, सर्वेश्वर आदि खराब कवियो की सख्त आलोचना मे बिताए हैं और जिस तरह से ये दोनो लिख रहे हैं उससे लगता है कि शेष वर्ष भी बिताने होगे किंतु इन दोनो को कवि मानने वाले लोगो मे से—जिनमें मेरे बहुत आदरणीय बुद्धिजीवी काव्यपारखी भी शामिल हैं—मैं किसी को भी बदल पाया हू यह कहना असभव है। मेरे लिए

उनका परिवेश उदासीन परिवेश हुआ, किंतु क्या मैं जिसे सही समझता हू उसे सिर्फ इसी उदासीनता की वजह से कहना बद कर दू ?

सृजनशील साहित्यकारो को सबसे ज्यादा हिदायतें आदर्शवादियों से मिलती हैं—मैं इसमे ऐसी सारी विचारधाराओ का समावेश करना चाहता हू जो साहित्यकारो के कर्तव्य निर्धारित करती हैं। वे यह भूल जाती हैं कि प्रत्येक सही साहित्यकार या तो अपने कर्तव्य जानता है या वे उसके लेखन से ही पैदा होते है और फिर भी उस पर लाजिमी नही होते। बहरहाल, हम देख चुके है कि साहित्यिक परिवेश स्वय अपने आप मे उदासीन नही है और भारत जैसे देश मे यदि वृहत्तर परिवेश कलाओ को लेकर उदासीन है तो उसमे आलोचना का कोई कुसूर नही है—वृहत्तर परिवेश समाज बदले बगैर नही बदल सकता और समाज बदलने के तरीको का कोई सीधा और फौरी सबध साहित्य या आलोचना से नही है—गहरी सामाजिक आलोचना से और मानवता के प्रति गहरे लगाव से है—और उसके लिए दूसरे ही काम करने पडते हैं—बल्कि वह काम एक तरह से पूरे समाज को ही करना पडता है। हा, आलोचना का कर्तव्य उदासीन जडता को तोडना अवश्य है। यह काम आलोचना अच्छी कला को समझकर समझाकर और उसकी तारीफ करके तथा खराब कला को उधाडकर और उसकी भर्त्सना करके ही कर सकती है। कुछ ऐसे अनेकातवादी अन्त्योदयी आलोचक भी है जो सिर्फ अच्छी कला की तारीफ करने को ही आलोचना का अत समझ लेते है—बल्कि वे अच्छी-बुरी किसी भी कृति के बारे मे ऐसी तरलमी भाषा का इस्तेमाल करते है कि उससे आप किसी भी नतीजे पर नही पहुच सकते—कृति के बहाने उन्हे सिर्फ अपने दिमाग की कलाबाजिया दिखाकर आपको गद्गद् करना है। दूसरी ओर आधुनिकता विरोधी, प्रगति विरोधी, मूढ मार्क्सवादियो, एकेडेमिको, रगीन पत्रिकाओ द्वारा पाले गए आदि नाना प्रकार के आलोचको की भीड है जो मौकापरस्ती के सारे रगो को बदल चुकी है। एक और दुखद दृश्य प्रतिभावान आलोचको का है जो लगभग शलाका पुरुष बनकर दैदीप्यमान हुए थे किंतु अच्छी जिंदगी, अच्छी नौकरी, अच्छी सोसायटी मे फसकर नैतिक आलस्य को अकाल प्राप्त हुए और अब अपनी पिछली कृतियो के पुनर्मुद्रण से काम चला रहे हैं। समसामयिक प्रासगिकतम लेखन पर इनसे न मालूम क्यो लिखा नही गया और अब आचार्यत्व का बौद्धिक चौथापन आ पहुचा। यह नही है कि अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाने वाले आलोचक रहे नही, किंतु वे कनफटे और हेठे समझे जाते हैं, उनका स्वागत मुश्किल से ही कही होता है क्योंकि वे भरोसे के काबिल और सभ्रात नही समझे जाते। ऐसे आलोचक जब सही जगह प्रहार करते हैं तो कायरो की एक टोली-की-टोली खूब वाह-वाह तो करती है किंतु सुसस्कृत ड्राइग-रूमो मे

उनकी चर्चा अभद्र मानी जाती है। आलोचना की समस्या परिवेश की उदासीनता नही, उसकी अपनी निर्भीकता की है। यूरोप की क्रातियो के पीछे निर्भीक चिंतन की एक परपरा थी। वह निर्भीकता उनके साहित्यिक चिंतन मे भी थी। भारत की मुक्ति गाधी की निर्भीकता के बिना सभव नही थी। जहा डरते, लजाते सकुचाते, चरण छूते, मिनमिनाते, स्वीकृति को ललचते 'साहित्यकारो' और 'आलोचको' की भीड नवधनाढ्यो अथवा फैशनेबल 'वामपथी' या 'दक्षिणपथी' बुद्धिजीवियो की ड्योढियो पर दस्तबस्ता खडी हो, वहा यह कौन सुने कि खुला, सजग दिमाग, भय से मुक्ति और सारे दिए गए सत्यो पर प्रश्न-चिन्ह लगाने की ताकत ही तमाम तरह की उदासीनताओ को तोडने की दिशा मे पहला मजबूत कदम है।

रचना के साथ सहज संबंध

इस विषय के पीछे जो चिंता या हल्का-सा हिस्टीरिया है वह किसी भी सजग पाठक के सामने स्पष्ट होगा। इसके पीछे शुद्ध भारतीय हिंदू भावना काम कर रही है। ऋग्वेद और महाभारत को छोड़कर हमारे लगभग सारे महाग्रंथ एक ठंडे भय से ग्रस्त हैं—वह भय है मतभेद का, संघर्ष का, नकार का, विरोध का और विद्रोह का। भारतीय जन-मानस में जो भीरु हिंदू बैठा हुआ है वह कभी राम के आगे शिव का आत्म-समर्पण करवा देता है, कभी कृष्ण को शिव से 'ऑब्लाइज' करवा देता है, वही बुद्ध को विष्णु का अवतार बना देता है, अटल-बिहारी को जवाहरप्रेमी कर देता है। कर्म, पुनर्जन्म और माया की अवधारणाएं इसी महाभय से निजात पाने की तरकीबें हैं। जय जवान जय किसान, गरीबी हटाओ, हिंदू-मुस्लिम भाई-भाई आदि समस्याओं की भयावहता से न उलझ पाने से पैदा टोटके हैं। वेद, पुराण और तंत्र में शत्रु को परास्त करने से लेकर सर्पदंश दूर करने के मंत्र मिलते ही हैं।

विषय के शब्दों के पीछे एक इच्छा भी है। दरअसल 'सहज' शब्द की जगह 'मधुर' पढ़ा जाना चाहिए क्योंकि इसी की खोज हो रही है। आम भारतीय 'बूर्ज्वा' और 'पेटी-बूर्ज्वा' अपनी पत्नी, अपनी ससुराल, अपने सहकर्मियों, अपने बाप आदि से 'सहज' या 'मधुर' संबंध रखना चाहता है। उसे मालूम है कि यदि वह संबंधों की असहजता की खोज करने लगा तो बुद्ध, शंकर, विवेकानंद, गांधी या मार्क्स का रास्ता लेना होगा। इसलिए वह मधुर, सहज संबंधों में ऊभचूभ करने लगता है।

संबंधों की सहजता की यह खोज हृदय-विदारक, 'नाईव' तथा 'पेस्टोरल' है, इसके पीछे 'अहा ग्राम्य जीवन भी क्या है, क्यों न इसे सबका मन चाहे' की गुहार है। एक नदी है जिसमें न कभी बाढ़ आती है और न कभी सूखती है।

उसके किनारे एक गाव है जहा हर बालक एक मोहन है और राधा हर इक बाला। वहा दूध-दही की नदिया बहती हैं और कभी बाढ, सूखा, दगे नही होते, वहा जमीदार और हरिजन एक-दूसरे को गले लगाकर अत मे कैमरे की तरफ देखते मुस्कराते हुए फोटो खिंचाते हैं। यह है सहज सबधो का स्वर्ग—समन्वयवादी सामासिक सस्कृति का स्वर्ग, सब कुछ ठीक होने का स्वर्ग।

विषय से लगता है जैसे आलोचना का रचना के साथ असहज, अप्राकृतिक या अमानुषिक सबध है। जब तक आलोचना रचना के 'विरुद्ध' न जाती हो तब तक तो वह सहज क्या सुखद, प्रीतिकर, समझदार, वयस्क, प्रौढ आदि हो जाती है। जैसे ही उसने रचना को जरा पैने ढग से देखना शुरू किया, अचानक रचनाकार सहज सबधो से दूर जाने की दुहाई देने लगता है। यानी जो काम व्यापारी आपके साथ कर रहा है, यदि वह मिलावटी बेच रहा है और दाम भी ज्यादा लगा रहा है और आप उसे स्वीकार कर लेते हैं और चुपचाप लेकर चले आते हैं तो वह कहता है 'अहा हा ! कितना शरीफ ग्राहक है', और यदि आप उसे ठोकते, बजाते, परखते हैं तो वह कहता है कि साहब आपको लेना हो तो लीजिये और फिर कहता है कि कहा के टुटपूजियो से पाला पडा है।

सवाल है कि क्या रचना जीवन से अलग है ? आप कहेगे कि नही—तो फिर सवाल है कि क्या आज का जीवन सहज है ? एक तो भारत का जटिल जीवन, दूसरे विश्व का जटिलतर जीवन और फिर उसमे रचनाकार होने की वजह से जटिलतम बौद्धिक जीवन। मुझे पूरा विश्वास है कि आगामी कुछ दशाब्दियो मे हमारा सम्पर्क ब्रह्माड की एकाध अन्य सभ्यता से होगा—उसके अकल्पनीय तथा दूरगामी प्रभाव होगे और हमारा समूचा अस्तित्व, जिसमे हमारा कृतित्व भी शामिल है, उससे बचा न रह पायेगा। वह कल्पना हम न भी करें तो क्या आज भारत के 'सहजतम' किसान का अपनी जमीन से सबध 'सहज' है ? क्या करोडो भूखे लोगो का उन्हे नसीब न होने वाली रोटी से 'सहज' सबध है ? मजदूरो, किसानो, गरीबो को तो खैर हम भले ही भूल जाए, क्या निम्न मध्यवर्ग और मध्यवर्ग का रिश्ता अपने ही वर्ग मे और उससे बाहर सहज है ? इन सबसे उपजने वाला साहित्य कभी सहज नही हो सकता। कबीर, निराला, गालिब, शमशेर की 'सहज' रचनाए कितनी असहज हैं क्या यह बताना होगा ? मुक्तिबोध की कविता की 'दुरूहता' की बात की जाती है। क्या वह किसी सहज प्रतिभा की उपज है ? धूमिल की कविता की शक्ति तमाम विरोधाभासो के बावजूद सहज तो नही।

सगीत, चित्रकला, नृत्य तथा स्थापत्य की तो बात ही करना बेकार है क्योकि उनका माध्यम शब्द नही है। इसलिए सहजता की समस्या तो वहा

बहुत ही विकट है और इसीलिए हम पाते हैं कि इन कलाओं की आलोचना—वह नितात प्रशसा भी क्यो न हो—भया वह रूप से असहज सबध स्थापित करती है—स्त्राविस्की, शोएनबर्ग आदि के सगीत की समीक्षा कभी-कभी उनके सगीत से भी ज्यादा दुरूह होती है और यही हाल कादिंस्की, मीरो, पाऊल क्ले आदि की कृतियो पर लिखी अच्छी आलोचना का है।

यदि आज की रचना सहज नही है तो उसकी आलोचना भी सहज नही हो सकती क्योंकि उसे समझने के लिए आलोचना को जो समझ हासिल करनी पडती है, जितनी दूर तक उसमे जाना पडता है और उससे प्राप्त चीजो को अभिव्यक्त करने के लिए जो शब्द और अवधारणाए रचनी होती हैं वे बहुत ही जटिल होती है। यदि सहज सबध के माने केवल इतने हो कि आलोचना रचना के पास किन्ही पूर्वग्रहो के साथ न जाये या सहानुभूति लेकर जाये तो इससे विवाद नही है। वह तो अनिवार्य है। किंतु जब कोई आलोचक किसी भी कलाकृति को देखता है तो यदि शुरुआत मे उसके पास सहानुभूति कूट-कूट कर भरी हुई हो तब भी यदि वह कृति उससे चल नही रही है तो सहानुभूति तिरोहित हो जायेगी और एक जटिल प्रक्रिया शुरू हो जायेगी। इसी तरह यदि कोई कृति आलोचक को पकड लेत ' तब भी सहानुभूति तिरोहित हो कर आनद, आस्वाद आदि मे बदल जाती है और पुन एक जटिल प्रक्रिया उसके मस्तिष्क मे चलने लगती है। कोई भी आलोचक सिर्फ कृति से ही नही प्राप्त करता, उसे अपनी बुद्धि, चिंतन, अनुभव तथा पठन-पाठन से जो प्राप्त है उसे भी वह कृति को समझने के लिए इस्तेमाल करता है और स्पष्ट है कि सहज सबध तो वहा रहते ही नही। सबध और जटिल तब हो जाते हैं जब किसी कृति स आपको कुछ ऐसा मिलता है जो आपको एक साथ आकृष्ट करता तथा छिटकाता हो, आप उससे 'लव-हेट' सबध रखते हो। ऐसे मे भी क्या हम फिर सहज सबधो की माग करेंगे ?

भारतीय सस्कृति शायद सबसे पहली सस्कृति है जिसमे विश्व की जटिलता को पूरी तरह पहचाना गया था—बाद मे इस जटिलता का सामना कैसे नही किया गया यह एक अलग दुखद इतिहास है जिसका फल हम सब अब तक भुगत रहे हैं। विश्व की जटिलता को पहचानने की एक कोशिश हेगेल ने की, मार्क्स ने उसे एक पूरी प्रणाली मे बदला, मार्क्स के कट्टरतम विरोधी यह स्वीकार करते हैं कि उसकी अतर्दृष्टियो ने ससार को देखने के तरीके को एकदम बदल डाला है और इसका असर बीसवी सदी के मानव कार्य-कलाप पर सर्वव्यापी तथा गहरा पडा है। यदि मैं 'मार्क्सवादी' नही हू तो मेरा 'मार्क्सवादी' न होना मार्क्सवाद के मेरे सही या गलत पठन से ही सभव हुआ होगा। विश्व की दो विराट् उप-विचारधाराओ, अस्तित्ववाद तथा सरचनावाद,

पर मार्क्स की अमिट छाप है। कहा जा सकता है कि आज का समूचा सृजन और उस पर समूचा चिंतन—*जिसे आलोचना कह लें*—बेहद जटिल है। सहजता की खोज या तो परीलोक में ले जाएगी या परलोक में।

सहज का एक अर्थ 'सिंपल' भी होता है और इस विशेषण से एक भयावह भाववाचक संज्ञा भी बनती है—'सिम्पिफिकेशन'। जो भी आलोचना बिना जटिल हुए, बिना विश्वसनीय हुए रचना के साथ सहानुभूति रखती है या उसे खारिज करती है वह सहज नहीं है, सिम्प्लिफिकेशन है। बात यह है कि बगैर कुछ स्थापित किए आलोचना रचना के पक्ष या विपक्ष में कुछ भी नहीं कर सकती—वह उसे पाठकों के लिए आसान भी नहीं कर सकती, उसमें पाठकों को पैदा नहीं कर सकती—और वे स्थापनाएं जो उस कृति से निकली हों, अन्य कृतियों से निकली हों विश्व साहित्य से निकली हों, किसी विचारधारा से निकली हों या आलोचक की अपनी सनक, समझ, पूर्वग्रह, बेईमानी आदि से निकली हों, सहज संबंध स्थापित नहीं करतीं।

शिल्प, शब्दचयन, शैली आदि को छोड़ भी दें तो आलोचना मूलतः इसी की खोज है कि कोई भी कृति मानव होने की जटिल दुविधा से पैदा हुए बहुआयामी संघर्ष को किस तरह अभिव्यक्ति देती है। सही आलोचना के केंद्र में मानव-मूल्य ही हैं और वे मानव जीवन से पैदा हुए हैं। मार्क्सवाद और अन्य सारे वाद, जो मार्क्सवाद की प्रतियोगिता में जटिलतर होते गये हैं, या वादहीनता भी, जब भी आलोचना बनकर कृति के पास जायेंगे तो भरपूर सहानुभूति ले जायें यह लाजिमी है किंतु वे चरितार्थ तभी होंगे जब वे कृति से रुधिर-मज्जा-बुद्धियुक्त संबंध बना लें। सहजता आलोचना की भाषा में तो हो, कृति के साथ 'सहज' संबंध में होगी, तो दोनों के लिए घातक होगा।

सहज आलोचना किसी भी कृति की सिर्फ इसी रूप में की जा सकती है—'कुल मिलाकर पुस्तक उपादेय है, इसे निस्संकोच मां बहिनों के हाथों में दिया जा सकता है, लेखक से बड़ी आशाएं हैं, छपाई-सफाई सुंदर है। केवल तीस रुपया दाम कुछ असरता है।' यदि हिंदी में लोग ऐसी ही 'सहज' आलोचना चाहते हों तो वह उन्हें मुबारक—आज विश्व साहित्य और विश्व आलोचना के मुकाबले में हमारी जो दुर्गति है उसके पीछे ठीक यही 'सहजता' की लालसा है।

संभावना

अशोक वाजपेयी के कविता-संग्रह 'शहर अब भी संभावना है' की रचनाओं को तीन बड़े शीर्षकों के अन्तर्गत रखा जा सकता है—प्रेम, लोग तथा प्रकृति, किंतु इनमें वस्तुपरकता को देखना व्यर्थ होगा। इन कविताओं में लोग और दृश्य कवि से अविभाज्य रूप से जुड़े हुए हैं और कवि दृष्टि से हटकर इनकी कोई वास्तविकता नहीं है। अशोक की रागात्मक कविताओं में मातृ-करुणा की थीम नयी कविता की शायद ऐतिहासिक वस्तु है। 'एक आसन्न प्रसवा माँ के लिए तीन गीत' अपने अछूते विषय के लिये ही पढ़े जाएंगे। 'माँ' की सीमित पंक्तियों में एक सपृक्त वात्सल्य है जिसमें अशोक ने बगैर 'माडलिन' हुए मध्य-वर्गीय भारतीय नारी की हाहाकारमय मूक त्रासदी का चित्रण एक मास्टर की कलम से किया है। मातृ संदर्भ की तीसरी कविता 'लौटकर जब आऊंगा' में भावना की यह तीव्रता स्टाइल के प्रति आग्रह की वजह से प्रभाव खोती सी प्रतीत होती है—कुछ पंक्तियों में एलियट की अनुगूंज भी है। स्त्री और पुरुष के प्रेम की कविताओं में अशोक कहीं-कहीं अत्यधिक विह्वल हैं और भावना के संप्रेषण के लिये 'सूर्यास्त', 'युवा जंगल', 'प्यार करते सूर्य स्मरण', 'जब हम प्यार करते हैं', 'सुबह' आदि रचनाओं में स्नान से बिंबों में पलायन करते है। प्रेम की ऐसी कविताओं के अलावा वे रचनाएं भी हैं जिनमें प्रेम के तृतीय आयाम—शारीरिकता तथा मांसलता—की भोगी अनुभूतियां हैं जो राफाएल के चित्रों का स्मरण दिलाती हैं। 'अवधि' में यह मांसल सामीप्य अपने सारे 'कर्टूर्स' तथा स्पर्शों में उभरा है।

कहीं भी वह आत्रोश, समाजद्रोह अथवा मूल्यद्रोह नहीं मिलता जिसे आज के अधिकांश कवितावार 'स्टीरियोटाइप' और 'क्लिशे' बनाते जा रहे हैं। कविता के लिये 'समाज' एक दुधारी तलवार है— उसका 'सामाजिक' होना एक सुविधा

भी है और असुविधा भी। लगता है अशोक ने समाज मे होते हुए भी समाज मे न होने के तनाव को खूब महसूस किया है किंतु उसे कभी भी अपनी कविता को तोडने की अनुमति नहीं दी—'अंधेरे के लोग और उजाले के लोग / और लोगों का त्यौहार/और उनकी भीडें/और उनके तमाशे/उनकी चिल्लाहटें और उनके कीर्तन/और उनके देवता और उनकी झडिया/मुझमे से सब गुजर जाएंगे/और थिर रहूंगा/एक धमनी की तरह।'

बीसवी सदी के पथरीले स्वार्थ, विरोधाभास एव अपराध बोध का 'एक कविता क्रम' की पाचवी कविता 'निश्शब्द' मे तीव्र सयमित आकलन है। यही तनाव 'एक छोटा शहर' तथा 'लोगो के बीच एक यात्रा' मे भी उभरता है। कवि है और 'लोग हैं और उन्हे रोज देखता हू/पर मेरे और उनके बीच एक मौन है, जिसमें मैं बोलता हू और चिल्लाता हू/कविताए'। कही-कही एक लिरिक पलायनवाद भी है 'हम सब सगीत की लय मे/उसके सुरो मे लिपट-कर दुबके हुए चुप है/और लोग हमे एक आकाश के नीचे/सूने पेडो/और सूखे टीलो के दृश्यो मे/खोज रहे है—' यद्यपि यह पलायनवाद 'लौटेंगे हम' की आस्था मे समाप्त होता है किंतु यह 'विश-फुल्फिलमेंट' अधिक लगता है और आशावाद कम। 'एक आदिम कवि का प्रत्यावर्तन' मे भी एक 'फिजिकल' सामाजिकता और रूमानी विश्वासवाद का शायरीनुमा समन्वय है।

'एक कविता क्रम' मे स्वतत्र रूप से लिखी गई सात सबद्ध कविताए हैं। इन कविताओ मे एक भावना-सीक्वेंस की जगह कथा-सीक्वेन्स अधिक है और यही इन कविताओ की कमजोरी भी है। कविता की रुचि इसमे होनी चाहिये कि वह कविता के रूप मे क्या कहती है। यदि कविता का पढना इस-लिये अच्छा लगे कि उसमे कवि के जीवन की कोई कहानी छिपी हुई है तो हम उसे कविता के रूप मे नही भोगते बल्कि (चूकि आज की कविता सीधा-सादा किस्सा नही सुना सकती) सकेतो और बिंबो से एक 'जिग-सा पजल' को सपूर्ण करना चाहते है। कवि के परिचितो के लिये शायद यह आसान हो और आनददायक भी, एक निर्लिप्त पाठक के लिए, जो कविता पढना चाहता है, यह एक खीझ का विषय है। एलियट के उद्धरण से प्रारभ होने वाले इस सग्रह के कवि को एलियट की 'इम्पर्सनल थ्योरी ऑव पोएट्री' का कदाचित् स्मरण नही आया। अशोक का 'टेंम्परामेंट' मूल रूप से रूमानी है और इसीलिए उनका 'मैं' शुद्ध 'मैं' होता है प्रूफ्राक वाला 'तुम' और 'हम' का समावेश करने वाला 'मैं' नही। इसलिये उनके 'मैं' को 'इम्पर्सनलाइज' कर कहानी के सतही सकेतो मे उतरने का कोई अवकाश नही है। सग्रह की सर्वाधिक अशक्त रचनाओ मे से एक इस 'क्रम' मे ही है और विचित्र बात है कि वह इस सग्रह को शीर्षक देती है। 'शहर अब भी सभावना है' इस पक्ति मे स्वतत्र रूप से बडी अर्थवत्ता

है किंतु अत्यत 'पेडेस्ट्रियन' प्रेम-सदर्भ मे फसकर वह उसे खो बैठी है। अशोक जब बिंबों, चित्रो तथा संकेतो मे कुछ कहना चाहते हैं तो उनके हाथ सधे हुए हैं किंतु जब प्रभावातर के लिए वे एक 'फ्लैट' भाषा का इस्तेमाल करते हैं तो स्थिति भदेस और बर्लेस्क की सीमा छूने लगती है, जैसे 'शहर के पार—मौत' का पाचवा चरण या 'उसके बाद' का दूसरा चरण। 'उसके बाद' का दूसरा चरण केवल कथा मोह की वजह से बहा है, उसे निकाल दिया जाए तो कविता एव अकथ्य, उदास सगीतात्मकता प्राप्त कर लेती है। 'सुनो', 'ये महज', 'हरियाली देखकर,' 'अत', 'ठड की शाम', 'एक पागल औरत' इस सग्रह की अशक्त कविताए इसीलिए हैं कि उनम कसावट का अभाव है। 'अत' पर मुझे 'नेराहान' का प्रभाव लगा।

अपनी कुछ कमजोरियो के बावजूद, कमजोरिया जिन्हे अशोक सरीखा जागरूक रचनाकार सहज ही दूर कर सकता है, इस सग्रह की कविताओ मे शब्दो के चयन, क्रम तथा 'एक्सप्लाइटेशन' के प्रति एक सुखद आग्रह है जो एक आशामय भविष्य की ओर सकेत करता है। अपेक्षाकृत प्रौढ कविताओ में जब अशोक 'शब्द', 'शब्दो मे अवसाद', 'कविता', 'भाषा', 'शब्दो का भय', 'उछलते हुए शब्द', 'चमक-भर दे सकने वाला शब्द', 'दैनदिन भाषा', 'मिले हुए शब्द', 'किसी पवित्रका भूला शब्द' का जिक्र करते हैं तो यह कोई 'मैनरिज्म' नही, बल्कि अनुभूति के प्रखर दबाव मे भाषा के गूगेपन की लाचारी के प्रतीक हैं। एलियट ने कही कहा है कि अभिव्यक्ति के लिए कवि के समीप केवल एक माध्यम है और उन्होंने 'द पेंस ऑव टर्निंग ब्लड इटु इक' का भी जिक्र किया है। कवि के लिए शब्दो का महत्व एलियट जितना समझते थे, शायद विरले ही जान पाते हैं। उन्होंने कहा है, "To pass on to posterity one's own language more highly developed, more refined and more precise than it was before one wrote it, that is the highest possible achievement of the poet as poet." अशोक और उनकी पीढी के कवियो को अभी एक ऐसी भाषा प्राप्त है जिसकी ऊर्जाए पूरी तरह से अन्वेषित नही की गई हैं। 'सक्षिप्त अनत,' 'अप्रासगिक हवा', 'उजले कपडे मे मढे हुए लोग', 'निष्कप ऋतुशिखा', 'फूलो के अभिनव,' 'वसतगीत' (पूरी कविता), 'उगलियों मे फूट-फूटकर बहता रहा उजाले का एक नरम बहाव', 'भूरी हसी,' 'आकाश-आखें', 'लौह करुणा', 'निविड प्यार', 'खुल गया है द्वार एक' (पूरी कविता) में कवि की सभावनाए रोमाचकारी हैं, यदि वह रूमान से किंचित् मुक्ति पा सके और अपनी भाषा को एक सामर्थ्यवान अलकारहीनता तक प्राकृतिक रूप से पहुचने दे।

कह सकें यह साहस ही नही है, क्योंकि हम आज की कविता को 'समझने' की चूहा-दौड मे पीछे नही रहना चाहते। प्रत्येक रचना का विश्लेषण मैं न देना चाहता हू, न इतना अवकाश ही है किंतु 'गिलहरी' भी इसी तरह की रचनाओं मे से है जिसमे स्टाइल का, कुछ गभीर कहने का तथा प्रतीक का मोह उसे एकदम 'डिस्इटीग्रेट' करने मे सफल हो गया है और एक चरमराती हुई प्रभावहीनता बच रही है। ऋतुराज का एक ओर मैनरिज्म है अपनी दो पक्तियो को टेक की तरह कविता के प्रारभ तथा अत मे रख देना, जो एकाध रचना को प्रभविष्णु बना सकता था और यू अपनी उपयोगिता सिद्ध कर सकता था, किंतु चौदह कविताओ मे सायास प्रयोग ने इसे ऊब का कारण बना दिया है।

'मैं आगिरस' की रचनाओ को पढते समय बार-बार ऐसा महसूस होता है कि गलती से किसी नौसिखिए और एक अत्यत प्रतिभावान कवि की पाडुलिपिया गड्डमड्ड हो गई और एक ही जिल्द मे प्रकाशित हो गई। जहा 'बूदो मे परीक्षाए' पढकर पुस्तक रख देने का मन होता है वही पर 'स्वस्थ पीढी', 'सबसे अच्छी कविता' 'कविता', 'असबद्धताए', 'प्रतिश्रुत पीढी', 'युद्ध' आदि घुघचियो के बीच पडे हुए मोतियो की तरह आकृष्ट करती हैं। दूसरा चरण असबद्ध होते हुए भी 'स्वस्थ पीढी' मे बात पैम्फलेटी न होकर स्पष्ट उभरी है। 'सबसे अच्छी कविता' को मैंने बार-बार पढा है और यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि ऐसी सुथरी कविताए, जो शब्दसारल्य और सप्रेषणीयता मे भाषा की नई सभावना की ओर सकेत करती हैं, हिंदी म कम दीख पडती हैं। कवि ने परिचित शब्दो का उपयोग परिचित तरीके से किया है फिर भी वह अपनी बात एक निश्छल प्रभावोत्पादकता से कह सका है। इसमे कही भी कोई 'चित्र' या 'बिंब' नही है जो आज की कविता मे अपरिहार्य-से हो गए है, किंतु एक सहज प्रवाह है और हिंदी मे ऐसी कविताए कम हैं जिनमें पक्तिया इस तरह एक-दूसरी मे घुलती हुई चली जाती है। पूर्णविराम (या कोई भी विराम) न लगाना भी आधुनिकता की नई रूढि बनता जा रहा है किंतु लगता है ऐसी कविताए वाकई किसी विराम की मुहताज नही है। 'कविता' मूलत एक रूमानी रचना है किंतु इसमे निर्वैयक्तिकता की तटस्थता तथा किसी 'अन्य' की उपस्थिति से निर्मित डायलॉग का निर्वाह बडी सहजता से हुआ है और कही भी 'मूड' पर व्यक्ति हावी नही हुआ है। साड' ऐसे ही विषयो पर लिखी गई विदेशी कविताओं का स्मरण दिलाती है किंतु भारतीय सदर्भों ने इसको व्यग्य दृष्टि को नवीनता तथा वैशिष्ट्य दिया है और कवि के एक पृथक् पहलू को उजागर किया है। 'वसत' मे इकॉनमी है किंतु यदि बात कुछ और फैलाकर कही जाती तो शायद कविता लाभान्वित ही होती। 'मैं आगिरस' मे 'कॉस्मिक इमेजरी' केवल एकत्रित की गई है, उसका सक्षम निर्वाह नही हो सका

'मैनाल के मदिर' के प्रथम चरण की तीसरी पंक्ति कविता के स्थापत्य मे नितात बेमेल है किंतु रचना मे दृश्य तथा उससे प्रेरित विचारो की प्रस्तुति तथा एकीकरण की क्षमता है। अतिम दो पक्तिया कविता को एक अप्रत्याशित मोड देती हैं जिसका पूर्वाभास दूसरे चरण की "जहा स्त्री-पुरुष का अति साधारण सबध महत् कलात्मक ढग से अभिव्यक्त होता है" पक्तिया मे प्राप्त है और यह बोध कविता के आनद को कई आयाम देता है। 'सदर्भ' मे पुन 'सबसे अच्छी कविता' के गुण विद्यमान हैं "मेरे मित्र/मैं मानता हू/हम बहुत भव्यता और पवित्रता के साथ/जीवित रहे हैं और/गिरे भी है तो/ग्लानिरहित होकर गिरे हैं/किंतु हमसे हमारे लक्ष्य पूछते हैं क्या जीवन का यही प्रयोजन होता है ? क्या हम इस एक जीवन को/इस केवल एक जीवन को/एक ही तरह से जी सकते थे ?"—इन पक्तियो पर एलियट की शैली का प्रभाव स्पष्ट है किंतु 'विचार', 'रेटरिक' तथा 'कविता', तीनो का सतुलित निर्वाह इनमे हो सका है और यह कवि की अपनी उपलब्धि है।

सग्रह के प्रत्येक पृष्ठ पर एकाध पक्ति ऐसी दीख ही जाती है कि पूरी कविता मे दिलचस्पी जाग उठती है, यह बात अलग है कि एक पक्ति से कविता नही बनती। इस सग्रह के बाद ऋतुराज की कविताओ को, जो यहा-वहा प्रकाशित होती रही हैं, मैं देखता रहा हू और मुझे लगा है कि वे अपनी अचकचाहट पर तेजी से विजय प्राप्त करने मे सफल होते जा रहे है। 'मैं आगिरस' की कविताए इसीलिए महत्त्वपूर्ण नही हैं कि वे ऐसे कवि की रचनाए हैं जिससे सुखद आशाए करना कोई जोखिम नही, बल्कि इसलिए भी कि वे वय सधि के सक्रमण मे अपनी अभिव्यक्ति से जूझते हुए किसी भी रचनाकार तथा उभरते कवि की विकास प्रक्रिया मे दिलचस्पी रखने वाले किसी भी आलोचक के लिए आदर्श प्रयोगशाला हो सकती है।

विकास

राजीव सक्सेना के काव्य-संग्रह 'आत्म-निर्वासन और अन्य कविताए' मे एक परिशिष्ट भी है जिसमे एक वक्तव्य तथा एक लेख है। इस परिशिष्ट को बिना किसी हानि-भय के उपेक्षित किया जा सकता है क्योकि इस तरह की चीजें कविता को गौण बनाती हैं और प्राय हमेशा नार्सिससिज्म से उपजती हैं। यदि कवि अपनी कविता की व्याख्या करने के लिए इस तरह व्याकुल होता है तो इसका यही अर्थ हो सकता है कि या तो उसे पाठक के विवेक पर भरोसा नही है अथवा अपनी कृति के सामर्थ्य पर। सग्रह मे १९४१ से १९६५ तक लिखी गई बारह लबी कविताए हैं जिन पर गीता से लेकर ब्रेख्ट तक के उद्धरण हैं और विचित्रतर बात यह है कि अतिम कविता के आगे तो उसी का एक अश उद्धृत है।

१९४७ म लिखी गई कविता 'मुक्तिगीत' आदमी के सामाजिक-आर्थिक-राजनैतिक इतिहास को काव्य म बाधने की चेष्टा है और मार्क्सवाद का प्रभाव उस पर स्पष्ट है। इसका तीसरा चरण यदि गद्य म भी होता तो कोई फर्क नही पडता। अतिम चरण मे कवि इतिहास के अनुभव से गुजरकर देखता है 'कि आगे समता के उपवन हैं' और इसीलिए वह आलिगन-आतुर बाहे' फैलाए मुक्ति की तलाश मे 'बावले वैशाख समीरण-सा' घूमता है। १९६५ की कविता 'एक पुराने महल मे' मे भी इतिहास-बोध है किंतु १९४७ की रूमानी प्रगतिशीलता अनुपस्थित है। आज के नैराश्य और 'डाइलेमा' का इसम आभास है और स्थितियो मे कोई मूलभूत अतर नही है किंतु १९४७ का 'बावला वैशाख-समीरण-सा' कवि १९६५ मे लिखता है—' मुझे लगता है जैसे मैं/क्षुद्र तिलचिट्टे-सा रेंग गया हू/दुबककर।" हिंदी कविता के पिछले बीस वर्षों म जो परिवर्तन या विकास हुआ है, शायद ये दो कविताए छोटे पैमाने मे उसकी परिचायक

हैं। अब कवि विश्वस्त नही है, उसके पास कोई नारा या आस्था नही बची है और वह दो भयावह विकल्पो के बीच पिसा जा रहा है : "क्या मैं ढह जाने दू इस महल को/अपने आप/क्या मैं दफना दू जीवित अपने ही ताप/या उठ बैठू/और बाहर निकल पडू/चीखू और चिल्लाऊ/बारूदी सुरगें बिछाकर लगा दू···।" सामाजिक विडम्बनाए इस रचना मे भी कवि का सर्वोपरि 'कमर्न' हैं और 'फेलो-ट्रैवलिंग' के कुछ अवशेष अभी भी हैं किंतु राजनीतिक आक्रामकता इतनी क्षीण हो गई है कि उसे कविता माना जा सकता है। लजारस बाइबिल से उठाए गए एक प्रतीक पर आधारित है और प्रतीक 'समझने' मे कोई कठिनाई नही होती क्योकि 'चिर्मनिया', 'करेंट अकाउट', 'स्याह कार' आदि शब्दो का भी खुलकर इस्तेमाल हुआ है। शायद इसीलिए इस कविता के 'सदर्भ' के अतर्गत अतिम वाक्य "शिल्प बिंब-प्रधान है, अत चिन्हो का अर्थ समझने के लिए थोडी-सी कल्पनाशीलता अपेक्षित है" ने मुझे उस उस चुटकुले का स्मरण दिलाया जिसमे 'अ', 'ब' से कहता है कि तुमने यदि यह बता दिया कि मेरी थैली मे बैंगन हैं तो तुम्हे एक इनाम दूगा और यह भी बता दिया कि वे कुल दो किलो हैं तो आधे तुम्हारे!

'विलुप्त पीढी का गीत' तथा 'एक और दिन का गीत' मे पक्तियो को एक विशेष ढग से कपोज करवाया गया है। पहली कविता के अधिकाश पदो मे पक्तियो की स्कीम कुछ इस तरह है—पहली पक्ति लबी, अगली दो पक्तिया छोटी और बराबर, तथा अतिम पक्ति पहली पक्ति के बराबर लबी। दूसरी कविता मे सीढीनुमा तीन तीन पक्तियो के चरण हैं। यह जानने की कोशिश की जानी चाहिए कि लिखने अथवा छपने के इन विशेष तरीको से कविता कितना खोती है या कितना पाती है। यह तो सभी जानते हैं कि पक्तियो के इस सयोजन के पीछे कुछ काव्यगत आवश्यकताए होती होगी किंतु इन दो कविताओ मे ऐसे शिल्प-कौशल की अपरिहार्यता थी या नही, यह एक खुला प्रश्न है।

'आत्म निर्वासन', 'अस्तित्व का गीत', 'रात पिछले पहर मे', 'राहे चलती रही' आदि कविताए पाठक को सतुष्ट करती है और आश्वस्त भी। कवि ने पिछले वर्षो मे अपनी अभिव्यक्ति को बदला है और ये रचनाए उसे औचित्य देती है। 'अस्तित्व का गीत' पिछले कुछ वर्षों की महत्त्वपूर्ण कविताओ मे रखी जा सकती है। इसमे चमत्कार अथवा 'क्लैप-ट्रैप' की कसरतें नही है और देखकर हर्ष होता है कि अठारह वर्षो मे, जबकि कई 'प्रगतिशील' कवि फॉसिल बन गए, राजीव सक्सेना ने अपनी ऊर्जा को न केवल जीवित रखा वल्कि अपने शब्दो तथा तरीके को इतना तरल बनाया। कविता मे सामाजिक आक्रोश को व्यक्त करते हुए कवितापन बचाए रखना कठिन है किंतु राजीव सक्सेना की इन

कविताओं मे ऐसे कई स्थल हैं जहा यह दुहरी जिम्मेदारी सफलतापूर्वक नि
सकी है। यह सग्रह अपनी ईमानदारी तथा स्वस्थता से प्रभावित करता
और मुक्तिबोध के बाद हिंदी कविता क्या हो सकती है इसकी ओर इंगि
करता है।

'अंधेरे में' तथा मुक्तिबोध की अन्य कविताएं—एक अंतसूंत्र

चूंकि आलोचक चीजो को समझना चाहता है और उन्हे समझाने मे सहायक होना चाहता है अत वह एक व्यवस्था-प्रिय व्यक्ति होता है, या कह लें कि एक गणितज्ञ होता है जो परिणामो से कारणों की उल्टी यात्रा करता है। अन्य बातो के अलावा वह रचनाकार की कृतियो मे एक सर्वनिष्ठ थीम, मोटिफ या मोटे तौर पर कोई बुनियादी समानता (या उनका अभाव) खोजता है जो न केवल उन कृतियो को समझने मे मदद करे बल्कि रचनाकार के भीतरी विश्व की व्यवस्था (या अव्यवस्था) को भी उजागर कर सके। यह आवश्यक नही कि किसी रचनाकार की समस्त रचनाए एक-दूसरे से जुड़ी हुई हो और उनमे सुबद्ध विकास-सरीखी कोई चीज देखी जा सके—युवा येट्स तथा बूढे येट्स की रचनाओ मे कितना फर्क है—किंतु इस तथ्य से भी छुटकारा नही है कि एक ही रचनाकार की कृतिया एक ही व्यक्ति की होती हैं और बहुत-कुछ बदलने के बाद भी हम सबमे कुछ ऐसा होता है जो कभी नही बदलता, बल्कि समय के साथ-साथ और गहरा पैठता जाता है। कविता मे तथा कवि मे जब भी बदलाव आता है तब वह न तो अनायास होता है और न पिछले संसार से असबद्ध। कविता के जितने दौर आए हैं उनसे जाहिर है कि उन दौरों मे लिख रहे कवि बदलते हुए समय मे बदले हुए स्वय के प्रति सर्वथा जागरूक थे। 'पल-पल परिवर्तित' वेश अच्छी कविता का मानदड नही माना जा सकता किंतु यह भी सत्य है कि ऐसे कवियों मे, जो स्वय को नही बदलते, अधिकाश घटिया हैं। ईमानदार कवि के लिए बदलाव 'मुकरना' नही, जागरूक उत्तरदायित्व भाव है।

हिंदी की नई कविता मे अपने कृतित्व के प्रति सर्वाधिक जागरूक (मुग्ध नही) कवि मुक्तिबोध थे। 'चाद का मुह टेढा है' की कविताओ को जिन्होने

सरसरी दृष्टि भी दी है वे इससे परिचित होंगे कि वे एक गहरे जिम्मेदार, प्रतिबद्ध तथा 'एगेज्ड' कवि की रचनाए हैं। यदि मुक्तिबोध मे यह नही होना और सिर्फ एक शब्दाडबर होता तो वे हमारे युग के सर्वाधिक बडबोले कवि होते किंतु उनमे वह प्रखरता तथा भयावह करुणा है जो उनके भावुकतम क्षणो, कल्पना की असभवतम उडानो पर भी प्रश्नचिह्न नही लगाने देती। उनके समक्ष कविता मे उनके उद्देश्य इतने स्पष्ट हैं कि उनकी समस्त कविताए एक बडी कविता लगती हैं। मुक्तिबोध आज के महाभारत के सात्यकि तथा सजय दोनो है और उनकी कविताए इस युद्ध को विभिन्न कोणों तथा स्थितियो से दिखाने वाले प्रत्यक्षदर्शी ब्यौरे हैं। मुक्तिबोध की कविताओं की थीम एक ही है—सघर्ष—व्यक्तिगत तथा विराट् स्तरो पर। 'चाद का मुह टेढा है' की अट्ठाईस कविताओ मे चौदह स्पष्टत उनके बाह्य सघर्ष की कविताए हैं, यद्यपि यह सीमाकन अन्यायपूर्ण भी हो सकता है क्योंकि मुक्तिबोध मे व्यक्ति कब विराट् स्वरूप धारण कर लेगा (इन कविताओं मे 'अचानक' 'सहसा', 'इतने मे ही', 'यकायक' आदि शब्द व्यर्थ नहीं हैं) यह न पाठक जानता है और न स्वय कवि।

ऊपर जिन कविताओ को मुक्तिबोध की बाह्य सघर्ष की कविताए कहा गया है, उन्हें इस तरह के विभाजन म रखना सुविधाजनक नही है, तर्कसगत आवश्यकता है क्योकि इनके एक साथ अध्ययन स मुक्तिबोध की कविता की मौलिक 'यूनिटी' साफ दीख पडती है। कविता मे यूनिटी शिल्प की भी हो सकती है और अभिव्यक्ति की भी—यानी हो सकता है कि विभिन्न विषयो' पर लिखी गई कविताओ का शिल्प एक-सा ही हो अथवा शिल्प के साथ 'प्रयोग' किये गये हो किंतु 'विषय' एक ही रहे। मुक्तिबोध की सारी कविताओं मे भाषा एक-सी ही है, इसमे शायद असहमति नही होगी। वे भाषा को एक 'इटेंस' तथा परिष्कृत स्तर पर इस्तेमाल करते है और उनकी कविता के प्रभाव मे भाषा का योगदान नजरअदाज नही किया जा सकता। शमशेर तथा माचवे का शिल्पबाहुल्य भी उनकी कविताओ मे नही है, किंतु इससे 'अनगढ शिल्प' का दयनीय मूढ आरोप उन पर नही लगाया जा सकता क्योकि यह सब जानते हैं कि अपनी कविताओ को उन्होने कितनी बार सवारा है सुधारा है। दरअसल मुक्तिबोध अपनी अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त एक शिल्प पर पहुच चुके थे और उनकी कविता के लिए शिल्पाक्रांत लटको की आवश्यकता नही रह गई थी। किंतु भाषा अथवा शिल्प की यथावत्ता ही उनकी कविताओ को यूनिटी नही देती। मुक्तिबोध का काव्य एक बडा कैन्वस है जो विविध आकारो तथा रगो से भरा हुआ है। उन्होंने कलात्मक सुविधा को खयाल मे रखते हुए उस कई जीवत टुकडो म बाट दिया, किंतु हर खड मे मूल वृहत्तर कैन्वस के कुछ अश रह ही गए।

इन खडो को पहचानना होता है, आपस मे इन्हे जोडना होता है और तब शायद उस बृहत्तर कैन्वस का एक भव्य आभास होने लगता है।

मुक्तिबोध की कविताओ मे एक विराटकाय रहस्यपुरुष अनेक बार प्रकट हुआ है। 'अधेरे में' का प्रारभ इसी 'कोई एक' के कमरो मे चक्कर लगाने से होता है। इस अज्ञात के विषय मे कुछ सकेत प्राप्त होते है, कमरे के पलस्तर की पपडिया गिरती है और वहा एक बडा चेहरा बन जाता है जिसकी नासिका नुकीली, हनु दृढ तथा ललाट भव्य है—फिर यही चेहरा जल मे भी दीख पडता है ('चबल की घाटी में' आदि रचनाओ मे भी चीजो के अचानक चेहरो मे परिवर्तित हो जाने के उदाहरण हैं) और आखिरकार सशरीर समक्ष आ जाता है। किंतु इस साक्षात्कार के पहले वन-वृक्षो की शाखाए, डालिया झूम-झपटकर एक-दूसरे पर पटकती हैं सिर, और ऐसा ही विप्लवी दृश्य 'चकमक की चिनगारिया' मे भी है जबकि 'बाहर के पहाडो पेड' जड मे जम भयानक नाच नाचने लग जाते है। पेडो के इस प्रलयवत् नर्तन के पश्चात् 'छिपी हुई एक तिलस्मी खोह का शिला द्वार खुलता है धड से', 'मेरे सहचर मित्र' मे भी 'अकस्मात्, जबरन' धक्के से शिला-द्वार वह गुहा-द्वार आत्मा का धड से खुलता है।

इस विराट् स्वरूप से मुकाबला गहरे लाल रग मे डूबे हुए वातावरण मे होता है 'घूमती है लाल-लाल मशाल अजीब सी/अतराल विवर तम मे/लाल-लाल कुहरा/कुहरे मे, सामने, रक्तालोक-स्नात पुरुष एक/रहस्य साक्षात्।' 'मुझे याद आते हैं' की 'निहाई से उठती हुई लाल-लाल/अगारी तारिकाए बरसती हैं जिसके उजाले मे कि/एक अति भव्य देह/प्रचड पुरुष श्याम/मुझे दीख पडता है'। 'पता नही' मे 'होता है प्रकट एक/वह शक्ति पुरुष/जो दोनो हाथो आसमान थामता हुआ/आता समीप/अत्यत निकट। यही शक्ति पुरुष 'एक स्वप्न कथा' मे 'सागर की थाहो मे पैर टिका देता है/'''सागर का पानी सिर्फ उसके घुटने तक है/पर्वत-सा मुख-मडल आसमान छूता है/अन-गिनत ग्रह-तारे चमक रहे कधो पर', किंतु 'अतर्कथा' मे अब तक दूर से ही दीखने वाला यह रौद्राकार 'कधा पर खडा हुआ है''/थामता नभस् दोनो हाथो से;/भारान्वित मेरी पीठ बहुत झुकती जाती/वह कुचल रही है मुझे देव आकृति।'

इस दुर्धर देव के तकाजे बहुत कठिन हैं—'वह बिठा देता है तुग शिखर के/खतरनाक, खुरदरे कगार-तट पर/शोचनीय स्थिति मे ही छोड देता है मुझको/कहता है—"पार करो पर्वत-सधि के गह्वर,/रस्सी के पुल पर चल-कर/दूर उस शिखर-कगार पर स्वय ही पहुचो"। 'एक अतर्कथा' मे आकार वही है किंतु 'प्रोटेगॅनिस्ट' की आत्मीयता उसके विषय मे कहती है, "मैं जनमा

जब से इस साले ने कष्ट दिया/उल्लू का पट्ठा कंधे पर है खड़ा हुआ' और आदेश भी वैसे ही हैं—'बिल्कुल जमे रहो/तुम दाव अड़ाओ, तने रहो'। यह और बात है कि दोनों बार प्रोटेगॅनिस्ट पलायनवादी है और उसका यह आदेश मानना उस पर भारी है। जब यह देव हारकर अदृश्य हो जाता है, तब वह उठता है किंतु पाता है कि बाहर कोई नहीं है, केवल रात का पक्षी चीखता है—'वह चला गया···/उसको तू खोज अब/उसका तू शोध कर' जिस तरह 'एक स्वप्नकथा' की यक्षिणियां कहती हैं 'सहस्रों वर्षों से यह सागर/उफनता आया है/उसका तुम भाष्य करो/उसका व्याख्यान करो···'/

इस रहस्य पुरुष की एक मुद्रा और भी है—शांत मुद्रा—जिसमें वह गंभीर इतिहास-अध्येता तथा लेखक दोनों है। 'एक भूतपूर्व विद्रोही का आत्मकथन' में 'रहस्य-पुरुष-छायाएं इतिहास लिखती हैं' तथा 'मेरे सहचर मित्र' में रक्ताभ दिए की 'लाल-वलय-शाली' ज्योति के नीचे 'कालांतर-अनुभव ग्रंथ देश देशांतर के पाता हुआ कोई जातवेदस् उद्भट भातदर्शी आजानुबाहु पत्थर-कुरसी पर' बैठा हुआ है।

इस दुर्धर देव के अंतर्हित होने के बाद रात गहरी होती है और मन में जागता है 'किसी अनपेक्षित/असंभव घटना का भयानक संदेह/अचेतन प्रतीक्षा' तथा यही अंदेशा 'चंबल की घाटी में' में भी विद्यमान है 'बियाबान रात/जरूर कहीं होगी आज वारदात, भयानक बात!!' किन्तु जबकि 'चंबल की घाटी में' की यह भयानक बात 'कोई छाया-रूप नकाब-पोश' के दीखने से प्रारंभ होती है, 'अंधेरे में' की उपरोक्त पंक्तियों के बाद विचित्र जुलूस दृष्टि-गोचर होता है जिसमें शरीक 'लोगों के चेहरे/मिलते हैं मेरे देखे हुओं से'। 'एक स्वप्नकथा' में भी एक जुलूस है जिसमें 'चेहरों के चौखटे/अलग-अलग तरह के—अजीब हैं/मुश्किल है जानना,/पर, कई/निज के स्वयं के ही/पहचान वालों का भान हो आता है।'

जुलूस के ये चेहरे 'मेरे जाने बूझे लगते, उनके चित्र समाचार पत्रों में छपे थे,/उनके लेख देखे थे,/यहां तक कि कविताएं पढ़ी थीं।' उनमें कई प्रकांड आलोचक, विचारक, जगमगाते कविगण/मंत्री भी, उद्योगपति और विद्वान्' भी थे जैसे कि 'एक स्वप्नकथा के जुलूस में अनेक मुख (नेता और विक्रेता, अफसर और कलाकार) अनगिन चरित्र/पर चरितव्य कहीं नहीं/अनगिनत श्रेष्ठों की रूप-आकृतियां/रिक्त प्रकृतियां/मात्र की महत्ता निराकार देवलता/दिखाई/देती है'। 'मुझे याद आते हैं' में काव्यनायक पहले ही 'संस्कृति के सुवासित वस्त्रों के/अंदर का वासी वह/'नग्न अति बर्बर देह···' देख चुका है किंतु भय अब हुआ है 'हाय, हाय! मैंने उन्हें देख लिया नंगा,/इसकी मुझे और सजा मिलेगी।' शहर में मार्शल लॉ लगा हुआ है, बलवे, अग्निकांड,

गोलाबारी हो रहे हैं, किंतु इस जुलूस मे सम्मिलित 'सब चुप, साहित्यिक चुप और कविजन निर्वाक्/चिंतक, शिल्पकार, नर्तक चुप हैं' जिस तरह 'भूल गलती' के सामने पेश किये गए ईमान की उपस्थिति मे 'सब खामोश/मनसबदार,/शाइर और सूफी,/अल गजाली, इब्ने सिन्ना, अलबरूनी,/आलिमोफाजिल सिपहसालार, सब सरदार/है खामोश' । यही 'अत करण का आयतन' के नगर बैबीलोन के 'प्रतिष्ठित राज्य सस्कृति के प्रभावी दृश्य/सुदर सभ्यता के तुग स्वर्ण-कलश/सब आदर्श/उनके भाष्यकर्ता ज्ञानवान् महर्षि/ज्योतिर्विद, गणित-शास्त्री, विचारक, कवि' हैं जो याद आते हैं।

इन्हे नगा देख लेने से भयभीत होकर काव्यनायक भागता है और 'दीखता है सामने ही अधकार स्तूप-सा/भयकर बरगद—/सभी उपेक्षितो, समस्त वचितो/गरीबो का वही घर, वही छत' जिसे अन्य रचनाओ के अतिरिक्त 'कल जो हमने चर्चा की थी' मे 'सामने हमने देखा/युगातकारी आस्थाओ का विशाल भव्य अक्षयवट्' जिसकी छाया तले 'वेगवान पीडा की कन्या' खडी हुई है। इस पेड के नीचे रहने वाले पागल के गीत का प्रभाव कुछ यो हुआ कि 'मैं खडा हो गया/किसी छाया-मूर्ति-सा समक्ष स्वय के,/होने लगी बहस/लगने लगे परस्पर तमाचे' 'चबल की घाटी में' के सवालो के ब्रूह जब सामने खडे होते है तब भी 'अपने ही गोरे-गोरे हाथो को खूब मार बैठते हैं/अपने ही काले-काले हाथ' क्योकि 'मेरे कारण ही लग गया/मार्शल लॉ वह,/मानो मेरी निष्क्रिय सज्ञा ने ही सकट बुलाया,/मानो मेरे कारण ही दुर्घट हुई यह घटना' और यही आत्म-भर्त्सना 'चबल की घाटी में' भी उभरती है, 'दस्यु पराक्रम/शोषण-पाप का परपरा-क्रम यक्षासीन है/जिसके कि होने मे गहरा अनदान/स्वय तुम्हारा''' उसको बढाने मे तुम्हारा भी योग है।'

यह आत्मालोचन समाप्त हो कि यकायक 'ऊपर से गिरकर / कधे पर बैठ गया बरगद-पात एक,/क्या वह सकेत, क्या वह इशारा ? क्या वह चिट्ठी है किसी की ?' इसी तरह 'चकमक की चिनगारियाँ' के गुजरते घाव ने 'लिफाफा एक नीला' दूर से फेंक दिया था और किसी ने बहुत आतुर हो उसे फिर-फिर पढा था। आगे स्वय प्रोटेगॅनिस्ट गिरता है 'चुपचाप पत्र के रूप मे/किसी एक जेब मे वह जेब/किसी एक फटे हुए मन की।'

इशारा पाने के बाद पुन पलायन प्रारभ होता है। कही छिप बैठने का मौका है कि 'स्वप्न मे स्वप्न' दीखता है जिसमे दीप्त हो रही हैं मणियां जो 'दीप्ति मे वलयित रत्न नही हैं' वरन् 'अनुभव, वेदना, विवेक-निष्कर्ष/मेरे ही अपने यहां पडे हुए हैं' जो 'ओ काव्यात्मन् फणिधर' के 'चुपचाप धसाये गए, छिपाए गए रत्न मन के, जन के' मूल्य-सत्य 'इस जग के परिवर्तन मे हैं'। पछतावा है कि 'मैंने उन्हें गुहा-वास दे दिया/लोकहित मे कर दिया वचित

जनोपयोग से वर्जित किया और/निषिद्ध कर दिया खोह मे डाल दिया' क्योंकि काव्यात्मन् फणिधर के लिए वे 'बहुत असुविधाजनक थे/इसलिए कि उनसे होता था/पट-परिवर्तन, यवनिका पतन/मन मे, जग मे !'

पुन आस-पास की भयावह स्थिति का आभास होता है कि चारो ओर 'बूढे असभव पक्षी' तेज निगाहो से टोह ले रहे है, जो 'मेरे सहचर मित्र' मे 'सामाजिक जगल के घुग्घू', 'चकमक की चिनगारियां' मे 'उग्र, जगली आख' वाले समुद्री पक्षी, 'इस चौडे ऊचे टीले पर' के 'चमकती सावधान आखो से देख रहे बूढे पक्षी' तथा 'चबल की घाटी में' के 'दानवी किसी वदनीयती के सावधान गिद्ध' हैं जिन्हे देख 'लुर्राट निगाहें' याद आती हैं ।

पहरेदारो तथा टैंको से बचकर भागता हुआ काव्यनायक जैसे ही तिलक प्रतिमा के पास आता है कि 'पाषाण पीठिका हिलती-सी लगती/ ··कण-कण काप रहे' जिनमे से झरते 'नीले इलेक्ट्रॉन/·'मूर्ति के तन से झरते है अगार/ मुस्कान पत्थरी होठो पर कापी' । 'डूबता चाद कब डूबेगा' मे प्राचीन योद्धा की मूर्ति भी हिलती दिखाई देती है, 'देखता हू कि चल रही सास/···वे होठ हिले, वे होठ हसे ।' 'द्युति पुरुष' गाधी जब शिशु सौंपकर अदृश्य हो जाते है और कह जाते हैं कि 'सभालना इसको, सुरक्षित रखना' तब 'डूबता चाद कब डूबेगा' का 'आत्मा-रूपी माता' का त्यागा हुआ 'जीवन का आत्मज सत्य' स्मरण हो आता है जो 'अनुभव-बालक' है, तथा जिसे गोद मे उठाकर काव्यनायक खुश-खुश घर लौटा था । सहसा शिशु रो उठता है और यह रुदन 'अतिशय परिचित' है, 'पहले भी कई बार कही तो सुना था ।' 'एक अतर्कथा' मे भी प्रोटेगॅनिस्ट का विचित्र अनुभव है, 'सिर पर की टोकरी-विवर मे मानव-शिशु/ वह कोई सद्योजात/मृदुल-कर्कश स्वर मे/रो रहा/सच, प्यार उमड आता उस पर ।' किंतु शिशु-स्वर मे शिकायत गहरी है, भयकर क्रोध है और पुचकारने, दुलारने पर भी वह चीखता है, 'वह शिकायतो से भरा बाल-स्वर मडराता/ प्रिय बालक दुर्भर, दुर्धर है ।' यह शिशु कौन है ? 'वह है मानव परपरा/ चिंघाडता हुआ उत्तर यह' और इसीलिए '''खुश बहुत हू ।/जिसको न मैं इस जीवन मे कर पाया,/वह कर रहा है ।'

यह शिशु अदृश्य होता है, सूर्यमुखी पुष्प उसका स्थान लेते हैं, उनकी जगह कधे पर राइफिल होती है और काव्यनायक एक कमरे मे पहुचता है जिसमे वह 'इस चौडे ऊचे टीले पर' मे 'पहले भी आया था, मैंने यह कमरा देखा है ।' पहली बार प्रश्न था 'यह कौन यहा जो लेटी है/मृत आकृति पीली जडीभूत' किंतु अब 'इस कमरे के बीच मे···जमीन पर पसरा,/फैलाये बाहें' जो 'ढह पड़ा आखिर', 'वह कलाकार था/गलियो के अधेरे का, हृदय मे, भार था ।' हृदय मे स्वप्न व ज्ञान व जीवनानुभव जो हलचल करता था वह

किसी को दे न पाया था। 'इस चौड़े ऊंचे टीले पर' मे प्रश्न है 'दिन-रातें—जिसकी तीव्र दृष्टि से विवेचिता/पल-क्षण—जिसके भाष्यो से जीवन के स्रष्टा/जीवन जिसकी प्रेरणा-व्यथा का वाहक था/उसकी महिमा अब विला गई,/किसने उसकी हत्या कर दी ?' उत्तर 'अंधेरे में' प्राप्त है—वह अचानक झोक मे कुछ कर बैठा और संदेहास्पद समझा गया तथा उसकी हत्या कर दी गई। इस तरह 'मर गया एक युग, मर गया एक जीवनादर्श।'

इस कमरे से वह उतरा ही था कि सहसा घेर लिया गया तथा 'आततायी सत्ता के सम्मुख'—'भूल गलती' के सामने 'कैद कर लाया गया ईमान'—प्रस्तुत किया गया। फिर 'चांटे से कनपटी टूटी कि अचानक/त्वचा उखड गई गाल की पूरी/कान मे भर गई/भयानक अनहद नाद की अनमन।' यह पहले भी हुआ है, 'चकमक की चिनगारियां' मे 'सहसा कनपटी पर जोर से आघात/आखो सामने विस्फोट' होता है तथा 'इस चौडे ऊंचे टीले पर' मे 'मानो कि कनपटी पर अनपेक्षित अकस्मात् आघात/कि थप्पड है/ "मस्तक की छत फूटने लगी, अपनी छाती पीटता हुआ नाद अनहद/सिर मे भटका।' उसके पश्चात् शुरू होती है बाकायदा थर्ड डिग्री—(और मैं सुनता हू चिढी हुई ऊंची/खिझलाई आवाज) । स्त्रीनिंग करो मिस्टर गुप्ता,/क्रॉस-इक्जामिन हिम थॅरोली।' यह आवाज निस्सदेह 'इस चौडे ऊंचे टीले पर' के उस बडे अफसर की है जिसकी सत्ता है, जो कमरो और परदो के पीछे 'सबके अंदर ठीक केन्द्र मे बैठा है, जिसका आतंक बहुत है।' किंतु यह अत्याचार विफल होता है और उसे रिहा कर दिया जाता है और वह देखता है कि 'मेरे ही विक्षोभ-मणियो को लिए'''/मेरे ही रत्नो को लेकर/बढ रहे लोग' किंतु उसे कोई मलाल नही है क्योंकि 'ओ नागात्मन् फणिधर' मे स्थिति पहले ही स्पष्ट है, 'शोक मत करो नागात्मन'''। आ गए तुम्हारी अनुपस्थिति में लोग प्रतीक्षा जिनकी थी/ले गए ज्वलत-द्युति प्रस्तर धन!!/अब उन रत्नो का अर्थ दीप्त होगा,/उनका प्रकाश घर-घर पहुचेगा फिर से।'

प्रकाश पहुचता है। विप्लव होता है। कही आग लगती है, कही गोली चलती है। 'मकानो की छत से गार्डर कूद पडे धम से/घूम उठे खम्भे/भयानक वेग से चल पडे हवा मे।' 'चकमक की चिनगारियां' मे 'बिल्डिंग गूजती है, काप जाती है/दीवालें ले रही आलाप/'''उखडते चौखटो मे ही खडाखड खिडकियां नचती।' अत्याचार की सरकार बरखास्त हो चुकी है और सडकों पर भीड तथा सरकारी फौजो के बीच मुठभेड़ें हो रही हैं जिनमे 'एक-एक वस्तु या एक-एक प्राणाग्नि बम है' जो शून्याकाश से होते हुए अरि पर अनिवार टूटते हैं। इस क्रांति के फलस्वरूप 'युवकों मे होता जाता व्यक्तित्वातर' जो 'जब प्रश्नचिह्न बौखला उठे' मे 'यह अग्नि-विश्वजित् फैली है जिन

लोगो की वे नौजवान हैं।'

स्वप्न टूटता है। चित्र बिखर गए हैं, कवि अकेला है। स्वप्न स्मरण आता है जैसे 'कल रात किसी अनपेक्षित क्षण मे ही सहसा प्रेम कर लिया हो।' वह 'अज्ञात प्रणयिनी कौन थी, कौन थी ?' वह प्रेमिका 'चकमक की चिनगारिया, की 'जनसग-ऊष्मा' है, 'महत् सभावनाओ की उजलती एक रेखा', जिसका श्याम भोला मुख (बहुत प्यारा) मुझे दिखता कि पाता हू—'मुझे ही देखती रहती/मनो-आकार-चित्रा वह सुनेत्रा है।'

यह वास्तव मे सौभाग्य का विषय है कि यह बात प्रमाणित सत्य है कि 'अधेरे मे' मुक्तिबोध की अतिम रचना है। यह भी कोई सयोग नही है कि यह उनकी सबसे लबी कविता है। यह तो मैं नही कहूगा कि उन्हे इसका आभास था कि यह उनकी अतिम कविता होगी—'नही होती, कही भी खतम कविता नही होती'—किंतु यह सोचने की इच्छा होती है कि इस कविता मे मुक्तिबोध एक 'समिग अप' कर रहे थे। अपनी पिछली कविताओ मे निस्सदेह उन्हे ऐसी सामग्री बिखरी हुई दीख पडी जिसे एक महाकाव्यवत् अभिव्यक्ति देना आवश्यक लगा होगा। *उस सामग्री का 'अर्थ' क्या है तथा उसके पीछे कौन*-सी प्रेरणाए कार्यरत हैं इस प्रश्न का उत्तर यहा अभीष्ट नही है। मैं यहा यही कहना चाहता हू कि मुक्तिबोध की इस रचना को अकेले देखना-परखना उचित नही है, बल्कि खतरनाक है, क्योकि उससे सबद्ध कई प्रश्नो का उत्तर हमे अन्य कविताओ मे या उनके सहारे प्राप्त होता है। उन अध्येताओ को, जो एक-एक कविता को पकडकर चलते हैं, मुक्तिबोध की स्वतत्र कविताओ से जो हासिल होगा वह अधिक नही होगा। इसके सारे प्रमाण मौजूद हैं कि 'अधेरे मे' एक स्वतत्र कविता होते हुए भी एक 'स्ट्रेटिफिकेशन' (स्तर-बहुल रचना) है और उसका सही मूल्याकन मुक्तिबोध की अन्य कविताओ को समानातर रखकर ही सभव है।

जनता का कवि

नागार्जुन के ताजा काव्य-संग्रह 'हजार-हजार बाहो वाली' की प्रारंभिक कविताओ मे दो ऐसी कविताएं है जिन पर परस्पर विरोधी होने का आरोप लग सकता है—पहली है 'पछाड दिया मेरे आस्तिक ने' और दूसरी उसके तुरंत बाद है 'कल्पना के पुत्र हे भगवान।' पहली कविता पढने पर ऐसा प्रतीत हो सकता है कि नागार्जुन एक आध्यात्मिक अर्थ मे आस्थावान् हो चले हैं। उसमे प्रात काल सूर्य-दर्शन तथा सूर्य को अर्घ्य देने का वर्णन है। किंतु सूर्य-पूजा का सपाट, सतही अर्थ लेना बहुत भ्रामक होगा। वह किसी 'हिंदू' का सूर्य-स्तवन नही है। उस कविता मे जो सूर्य पूजा जा रहा है, वह देवता न होकर इस पृथ्वी पर जीवन सिरजने वाला, मानव मे चेतना भरने वाला सूर्य है और उसकी आस्तिकता दरअसल इसी मानव मे पूरी आस्था रखने वाली आस्तिकता है। जब हम यह समझ लेते है तब हम यह भी पकड पाते है कि इस कविता के फौरन बाद 'कल्पना के पुत्र हे भगवान' जैसी ही कविता क्यो रखी गयी या लिखी गयी। इस दूसरी कविता मे उस पारंपरीण, पगु बना देने वाली 'आस्तिकता' पर निर्मम प्रहार है जिसके प्रभाव मे भारतीय जनता का एक बहुत बडा हिस्सा अब भी अकर्मण्यता की अफीम मे सोया हुआ है

छोडकर प्रासाद सोजू लोह—/वह रहा है पूर्वजो का मोह/और देकर बह रहे ये वेद और पुरान/भूल से चिपटे रहो नादान/बनू मैं सज्जन, सुशील विनीत/हार को समझा करू मैं जीत/क्रोध का अक्रोध से कर अंत/बनू मैं आदर्श मानव सन्त/रह न जाये उष्णता कुछ रक्त मे अवशिष्ट/गुरुजनो को भी यही था इष्ट/सड गयी है आंत/पर दिखाये जा रहे है दात/छोडकर सकोच, तजकर लाज/दे रहा है गालिया, यह जीर्ण-शीर्ण समाज/खोलकर बन्धन, मिटाकर नियति के आलेख/लिया मैंने मुक्तिपथ

को देख/नदी कर ली पार, उसके बाद/नाव को लेता चलूं क्यों पीठ पर मैं लाद/सामने फैला पड़ा शतरंज-सा संसार/स्वप्न में भी मैं न इसको समझता निस्सार/इसी में भव, इसी में निर्वाण/इसी में तन-मन, इसी में प्राण/यही जड़-जंगम सचेतन औ' अचेतन जंतु/यही हां' 'ना', 'किंतु' और 'परंतु'/यही है सुख-दुःख का अवबोध/यही हर्ष-विषाद चिंता-क्रोध/यही है संभावना अनुमान/यही स्मृति-विस्मृति सभी का स्थान/छोड़कर इसको कहां निस्तार/छोड़कर इसको कहां उद्धार/स्वजन-परिजन, इष्ट-मित्र, पड़ोसियों की याद/रहे आती, तुम रहो यों ही वितण्डावाद/मूंद आंखें शून्य का ही करूं मैं तो ध्यान ?/कल्पना के पुत्र हे भगवान !'

मैं नहीं समझता कि ईश्वर या उसमें आस्था को लेकर ऐसी कविता पहले कभी लिखी गयी होगी। हिंदी कविता का एक पूरा युग भक्ति का रहा है और भले ही भक्तिकाव्य-धारा क्षीण हो गयी हो, भक्ति-भाव जनता और कविता दोनों में थोड़ा-बहुत बचा हुआ है। किंतु नागार्जुन की यह कविता केवल भक्ति-भाव पर ही प्रहार नहीं करती, यह विश्वासों की एक पूरी प्रणाली पर वज्र की तरह गिरती है, इसकी एक-एक पंक्ति के पीछे एक-एक विस्फोट छिपा हुआ है। भारतीय समाज की प्रत्येक रूढ़ि तथा अंधविश्वास के विरुद्ध कबीर के बाद शायद नागार्जुन ने ही ऐसी कविता लिखी है।

नागार्जुन के इस संकलन को तथा पिछले संकलनों को पढ़ते हुए मैं लगातार सोचता रहा हूं कि नागार्जुन-सरीखे वैविध्य वाला कवि संसार के किस देश तथा किस युग के किस कवि के समकक्ष है। यद्यपि यह बिलकुल जरूरी नहीं है कि हर बड़ा कवि अपने समकालीन या पूर्ववर्ती किसी कवि से तुलनीय हो, ऐसी तुलना भी जरूरी नहीं है—लेकिन आज जब आप कई देशों की कई कविताओं से परिचित हैं तो उनमें व्यक्तियों और प्रवृत्तियों का एक 'पैटर्न' देखने की इच्छा को अस्वाभाविक या हीनभाव नहीं कहा जा सकता। तो मुझे लगता है कि सारी विश्व-कविता में नागार्जुन सिर्फ वाल्ट व्हिटमैन के नजदीक के कवि हैं। नागार्जुन के पास जो वैविध्य है, समूचे विश्व का जो चित्र नागार्जुन में है, जो गहरी सहानुभूति, आस्था तथा सहभागिता उनकी जनता के साथ है, जिस तरह वे अपनी सारी ताकत अपने देश से प्राप्त करते हैं, अपनी संस्कृति तथा विश्व-संस्कृति से प्राप्त करते हैं वह सिर्फ वाल्ट व्हिटमैन में देखने में आता है। यह अकारण नहीं है कि नागार्जुन ने अपनी एक कविता में व्हिटमैन का स्मरण किया है।

एक दृष्टि से नागार्जुन तात्कालिकता के कवि हैं किंतु उनकी तात्कालिकता ठण्डी, बेजान, रोषहीन तात्कालिकता नहीं है। वे दैनिक, साप्ताहिक, मासिक या वार्षिक घटनाओं पर जब प्रतिक्रिया करते हैं तो उसके पीछे एक दृष्टि, एक इशारा तथा एक इरादा होता है। तात्कालिक घटनाओं के प्रति उनकी

प्रतिक्रिया का स्वभाव तात्कालिक या भगुर नही होता। वाल्ट विटमैन की अनेक तथा लंबी-लंबी कविताएं तथाकथित तात्कालिकता से भरी पडी हैं, लेकिन आज हम उनमे इतिहास बाचने नही जाते बल्कि बदलते इतिहास पर एक बडे कवि की प्रतिक्रिया पढने जाते है। नागार्जुन की पिछले तीस-पैंतीस बरस की कविताओ मे ऐसे कई तत्त्व है जो तात्कालिक कहे जा सकते हैं, लेकिन कविताए बासी या पुरानी नही हुई हैं। पुराने सैकडो कवि पुराने हजारो हवालो से भरे हुए है—टी० एस० एलियट की अधिकाश कविताओं के सदर्भ अभी भी आम पाठको को नही मालूम—लेकिन उससे उनकी सार्थकता कम कहा हुई है।

जो कवि जनता की कविताए लिखने का जोखिम उठाता है वह कभी-कभी विरोधाभास का खतरा भी उठाता हैं। यदि जनकवि होने का अर्थ है जनता के सुख-दुख, आशा-आकाक्षा, आस्था-भ्राति, जय-पराजय, आक्रमण-पलायन मे निष्कवच तथा निष्कपट रूप से शामिल होना, तो नागार्जुन हिंदी के अकेले वैसे कवि है। जनकवि पूरी तरह से जनता के दिमाग तथा कार्य-कलापो का दर्पण होता है और चूकि जनता एक ही समय तथा अलग-अलग समयो पर हमेशा एक जैसी नही होती, इसलिए जनता के कवि मे भी तथाकथित विरोधाभास दिखायी देंगे। जो बेचारे उन्हे विरोधाभास कहेंगे शायद उन्ही पर खीझकर वाल्ट विटमैन ने कहा था

Do I contradict myself ?
Very well then I contradict myself,
(I am large, I contain multitudes)

जब किसी कवि मे इतना विश्वास होता है तब आप यह प्रश्न नही उठा सकते कि कही नागार्जुन की कविताओ मे नेहरू की प्रशसा है और कही उन पर व्यग्य, या कही जयप्रकाश नारायण मे आस्था है तो कही घोर अविश्वास। क्योंकि नागार्जुन के कवि ने पूरी तरह से जनता से तादात्म्य स्थापित कर लिया है—हम यह कह सकते है कि नागार्जुन जनता के सहस्रो 'मूड्स' के कवि हैं। इसे कवि की समझ का अभाव कहना स्वय कविता की समझ के अभाव को प्रकट करना है। भारत सरीखे जटिल राष्ट्र तथा भारतीय जनता सरीखी वैविध्यपूर्ण जनता के परिवर्तनशील स्वभाव को कविता मे उतार पाने के लिए कवि को लचीला होना ही पडेगा, उसे विरोधाभास या भ्रातिकारी समझ का अभाव कहना घातक होगा। जैसा कि कहा गया है, १९४७ के बाद के भारत को यदि कविता मे पूरी तरह से किसी ने प्रतिबिंबित किया है तो वह नागार्जुन ही हैं। स्वातत्र्योत्तर भारतीय जनता के सघर्ष का बहुत सारा इतिहास नागार्जुन की कविताओ के आधार पर लिखा जा सकता है।

निराला के बाद हिंदी के अनेक कवि जनता से जुडे हुए हैं और उनमे कई

साहस दिखायी पड रहा है तो इसीलिए कि वह निराला, मुक्तिबोध तथा नागार्जुन जैसे कवियो की प्रेरणा के आसरे पर खडी हुई है ।

नागार्जुन की कुछ कविताए एकदम अनूठा स्वाद लिये हुए हैं और स्वय उनकी ही कविताओ के वर्गीकरणो को तोडती हैं । मैं उन्हे उद्धृत नही करना चाहता, हा, 'हजार-हजार बाहो वाली' मे उनके शीर्षक तथा पृष्ठ सख्या दे रहा हू 'नयने फुला-फुला के' (१७१), 'नवादा-२' (८४), 'खडी है ट्रेन' (७६), 'सौदा' (५६), 'वणिक्पुत्र' (४५) और अबूझमाड वाले 'शबर-पुत्र' की कविता जो इस सक्लन मे नही है—जिनमे नागार्जुन का शिल्प, शब्दचयन, वर्णन-शक्ति एक अलग स्वाद तैयार करते हैं और निराला की 'महगू महगा रहा' जैसी बेहद अनायास तथा सादा किंतु वास्तव मे अत्यत जटिल तथा काव्यमय कविताओ की याद दिलाते हैं । इन कविताओ की शक्ति इस बात मे है कि ठीक-ठीक बता पाना कठिन है कि इनमे काव्यत्व कब और कैसे आ जाता है—इनमे वह 'एवोकेटिव' ऊर्जा है जो बडी कविता का एक लक्षण होती है ।

एक सघर्षरत कवि के नाते नागार्जुन मे जो एक और विशिष्ट तत्त्व है वह है आत्म-दया का नितात अभाव । जो कवि पिछली आधी शताब्दी से कई प्रकार के अन्यायो और अत्याचारो से जीवन तथा कविता मे लड रहा हो उस पर यदि एक क्षण के लिए वैफल्य भाव आ जाय तो कोई अपराध नही किंतु नागार्जुन मे वह एक क्षण ढूढ पाना मुश्किल है । उनकी एक कविता इस लिहाज से द्रष्टव्य है 'इन सलाखो से टिकाकर भाल/सोचता ही रहूगा चिरकाल/और भी तो पकेंगे कुछ बाल'—इन प्रारभिक तीन पक्तियो से लगेगा कि नागार्जुन टूटने वाले हैं किंतु अगली ही पक्तियो मे वे इस 'मूड' को छोडकर अन्दाज लगाने लगते है 'जाने किसकी, जाने किसकी, जाने किसकी/और भी तो गलेगी कुछ दाल/न टपकेगी कि उनकी राल' और इस तरह गहन अकेलेपन और अवसाद मे भी अपनी सजग चेतना का परिचय देते हैं । दरअसल दैन्य या पलायन नागार्जुन का केंद्रीय भाव है ही नही, उनका 'प्रतिहिंसा ही स्थायि-भाव है अपने ऋषि का' '/नव-दुर्वासा, शबर पुत्र मैं, शबर-पितामह ''/ महासिद्ध मैं, मैं नागार्जुन ' /'प्रतिहिंसा ही स्थायिभाव है मेरे कवि का/ जन-जन मे जो ऊर्जा भर दे, मैं उद्गाता हू उस रवि का'—यही वह आक्रोश है जो नागार्जुन को जनकवि बनाता है । भारत के करोडो भूखे, प्यासे, बे-आसरा आदमी, औरतो और बच्चो के पक्ष की यह प्रतिहिंसा उन्हे बुद्ध, कबीर तथा अन्य सत कवियो, निराला तथा मुक्तिबोध की पक्ति मे कालजयी स्थान देती है ।

उत्तरछायावादी तलछट का अंत

कुछ वर्षों पहले अमरीका के एक विश्वविद्यालय से हिंदी की 'आधुनिक' कविता का एक अनूदित सकलन प्रकाशित हुआ था जिसके सपादक एक भाषाविद् तथा सस्कृत के पंडित थे। यह सकलन विदेशों मे हिंदी कविता की ओर ध्यान आकृष्ट करवाने मे क्यों असफल रहा इसकी छानबीन दिलचस्प हो सकती है। किंतु उससे भी ज्यादा दिलचस्प उसकी भूमिका है जो अज्ञेय ने लिखी थी। यह भूमिका, जो उस तमाम 'भारतीय' ताम-झाम से भरी पडी है जिसकी ओर एक विशेष प्रकार का मतिमद अमरीकी हमेशा से आकृष्ट होता है, अपने अकालकवलित "विचित्र किंतु सत्य" 'मौन-सिद्धांत' के लिए पढी जा सकती है। 'हुवेवामा, हुवेविवस्ना', 'सी-टार' तथा 'योगा' के देश मे यदि यह सिद्धांत असफल हुआ तो इसका एक ही कारण है कि वह आवश्यकता से अधिक 'भारतीय' था, उसका 'क्रेडिबिलिटी गैप' अमरीकियो के लिए भी बहुत ज्यादा था। बात साफ तभी होगी जबकि इस भूमिका मे से कुछ उद्धरण दिए जाएं—

"The genius of English lies in understatement ; all Indian languages, on the contrary, tend to elaborate." मोटे तौर से इस वक्तव्य से असहमति नही हो सकती, किंतु उसके बाद कहा गया है—"yet this apparent prolixity in Indian languages is offset by a rigorous discipline on another plane : the profoundly significant use of silence." यह उस पाश्चात्य पाठक के गले उतारा जा रहा था जो महाभारत के साथ इलियड, वाल्मीकि-रामायण के साथ ओडेसी, वेदो के साथ न्यू टेस्टामेंट और भारतीय साहित्य तथा कलाशास्त्रो के साथ प्लेटो के रिपब्लिक, अरस्तू के पोएटिक्स तथा लांगिनुस के पेरि हुप्सुस की तुलना कर स्वय अपने निष्कर्षों पर पहुंच सकता था। वह उपनिषदों और पुराणों की सख्या भी

जानता है और तुलसीकृत रामचरितमानस का कलेवर भी उसे अब ज्ञात हो गया है। रही-सही जो कसर होगी वह स्वय उस सकलन की कविताओं के 'मौन' ने पूरी कर दी होगी। किंतु बात अभी पूरी कहा हो पाई है—"The contemporary Indian writer—and now I speak more specifically of the Hindi writer of poetry—would still regard silence as an effective means of expression" मौन का एक अर्थ तो बिल्कुल मौन हो जाना कुछ भी न लिखना, है और इसमे कोई सदेह नही कि हमारे अधिकाश कवियो के लिए अभिव्यक्ति का यही माध्यम उपयुक्त है, किंतु अज्ञेय का यह मतव्य तो स्पष्टत नही है। खैर, जब कोई कवि ऐसा वक्तव्य देता है तो वह उसके समय म लिखी जा रही सारी कविता के लिए भले ही न हो,कम-से-कम उसकी अपनी कविता के लिए जायज हो सकता है। अज्ञेय आगे चलकर "maximum exploitation of the unsaid" का भी जिक्र करते है।

स्मरणीय है कि जिस सकलन की भूमिका मे यह सब कहा गया है वह १९६५ मे प्रकाशित हुआ था और उसके बाद सीधे १९७० मे ही अज्ञेय के दो कविता सग्रह[1] प्रकाशित हुए जिनमे उनकी १९६५ से १९६९ की कविताए सकलित थी, इसलिए उनके द्वारा प्रतिपादित 'मौन सिद्धात' को कार्य रूप मे देखने का अवसर इन कविताओ मे मिलेगा, ऐसी उम्मीद बधी। किंतु दोनो सग्रहो मे कुल मिलाकर १०६ कविताए हैं। 'अनकहे से अधिकतम लाभान्वित होने' के लिए यदि इतनी कविताए जरूरी है तो जो कहना है उसके लिए हर बार एक महाकाव्य से कम क्या लेकर आना होगा। यही मौन का गहरा अर्थवान् उपयोग है तो राहत के लिए प्रगल्भता का एक दौर बुरा न होगा। (यहा स्मरणीय है कि इस शताब्दी के एक सबसे बडे कवि एलियट की कुल कविताए सौ से ज्यादा नही है—इसमे बच्चो के लिए लिखी गई 'ओल्ड पॉजम्स बुक ऑव प्रैक्टिकल कैट्स' की कविताए भी सम्मिलित हैं)। वैसे कोई कवि कितनी कविताए लिखता है इससे उसकी महत्ता या लघुता नही मापी जा सकती किंतु यदि अज्ञेय के 'मौन सिद्धात' को ही कसौटी माना जाए तो तब तक प्रकाशित कुल दो कविता-सग्रहो पर टिके हुए शमशेर उनसे ज्यादा सक्षम कवि हैं। दरअसल अज्ञेय का सिद्धात उनकी अपनी कविता पर तो लागू होता ही नहीं, पूरी तरह से सिर्फ शमशेर पर लागू होता है और कहीं-कहीं निराला पर,

१ (अ) 'सागर-मुद्रा' अज्ञेय राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली (ब) क्योकि मैं उसे जानता हू अज्ञेय भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली। दूसरा सग्रह न केवल प्रकाशन के पहले 'दिनमान' म समीक्षित हुआ था बल्कि उस वर्ष का सर्वश्रेष्ठ काव्य-सग्रह भी माना गया था। ऐसी मर्मस्पर्शी स्वामि भक्ति आदमियो तथा चौपायो दोना मे दुर्लभ है।

और इधर के हिन्दी साहित्य मे बस इन्ही दोनो पर ठीक बठता है। केदारनाथ सिंह मे भी यह सभावना थी, किंतु वे अपनी पुरानी लीक से हटकर कतिपय अत्यत सुखद कविताए लिख रहे हैं। अज्ञेय की 'सागर मुद्रा' की कविताए पढने के बाद मुझे कही भी नही लगा कि उन्होने पाठक पर भरोसा कर कोई बात अनकही छोडी हो। उलटे वे समझाने की विवशता के शिकार हैं। इस सग्रह की अधिकाश कविताए प्रेम, मृत्यु, आत्मावसाद और 'नोस्टैल्जिया' की कविताए हैं और देखकर दुख होता है कि स्वर्व की घोषणाओ के बावजूद अज्ञेय अपने पिछले सग्रहो से किसी भी अर्थ मे विकसित नही हुए है। उनकी कविता अभी भी 'विभोर', 'सजोयी हुई', 'हिये', 'अमराई', 'बयार', 'चुकता जाता हू', 'अगोरता हू', 'भीतर-भीतर जलना', 'यक्षिणी', 'मैं अनन्य', 'कन्हाई', 'नैन', 'पिया', 'औचक', 'रे', 'गुरुतर', 'टीस', 'मीत', 'सिहरन', 'सिसकी', 'दीठ', 'मारग', 'लून लदी भीजी', न्योछावर', 'दिवले', मनौती', 'यह नही कि' आदि की उत्तरछायावादिता से मुक्त नही हो पाई है। प्रेम और मृत्यु कविता के शाश्वत विषय हैं और उन पर कवि अपनी कलम आजमाए यह स्वाभाविक है किंतु मृत्यु के साथ ईमानदार साक्षात्कार के अभाव मे ऐसी कविताए जन्म लेती हैं—

काल की गदा
एक दिन
मुझ पर गिरेगी।

इन पक्तियो से किसी को शिकायत न भी हो किंतु अगली चार पक्तियो मे कविता की सारी सभावनाओ को नष्ट कर दिया गया है—

गदा
मुझे नही भाएगी .
पर उसके गिरने की नीरव छोटी-सी ध्वनि
क्या काल को सुहाएगी ?

'भाएगी' और 'सुहाएगी' सरीखी दुर्भाग्यपूर्ण क्रियाओ के प्रयोग से कविता लोरी मे बदल जाती है। एक ओर काल की गदा का गिरना है और दूसरी ओर 'नीरव छोटी-सी ध्वनि' ('नीरव', 'ध्वनि' भी दृष्टव्य हैं)। लगता है काल की गदा भूल से लिख दिया गया है, दरअसल समय का पुष्पहार गिर रहा है। मृत्यु पर ही एक कविता इस तरह है—

ज्योति के
भीतर ज्योति के
भीतर ज्योति
प्यार है वह—वह सत्

और तत्
तदसि त्व—एवत्

इसमे कोई कविता नही है, तरकीब है, घिसा-पिटा फार्मूला है और सस्कृत के सहारे शब्दो का हास्यास्पद खेल है। यह कविता के नाम पर दर्शनशास्त्र देना है और वह भी ऐसा दर्शनशास्त्र जिसे भारतीय तागेवाला, जागरण प्रेमी गृहिणिया, आर्यसमाजी, जनसघी, रिटायर्ड बूढे, 'शातिवन' वाले हसजी महाराज, कस्बाई और शहरी कथावाचक दिन-रात पीटते रहते हैं। इसी तरह के चिघाचिघा दर्शन को लिए हुए ये पक्तिया भी दृष्टव्य हैं—

मरता है ?
जिसका पता नही
उससे डरता है ?
—गा !

ऐसे लाउडस्पीकरी उद्बोधन से भरी बारह पक्तिया इस 'कविता' मे और है। प्रत्येक पक्ति मे कविता की हत्या करने की विलक्षण क्षमता मौजूद है। एक अन्य कविता मे 'रामजी' के आने का स्वागत किया गया है। फिर मुहलगे भक्त की सिरचढी मुद्रा मे ये पक्तिया हैं—

ऐसे ही एक दिन
डोलता हुआ आ धमकूगा मैं
तुम्हारे दरबार मे
औचक क्या ले सकोगे
अपनी करुणा के पसार मे ?

कहना न होगा कि यह और ऐसी सारी नारदमुनि-नुमा पक्तिया मृत्यु के रहस्य को अत्यन्त फूहड बनाती हैं और उसके साथ साक्षात्कार को एक सस्ते स्तर पर—'भक्ति' के कृतकृत्य गीताप्रेस गोरखपुरी स्तर पर—उतारती हैं। मृत्यु ने ससार को कुछ श्रेष्ठतम कविताए दी हैं। मैं यह नही कहता कि भवानीप्रसाद मिश्र की 'अधेरी कविताए' उस स्तर को छूती हैं, किंतु यदि हिंदी मे देखना हो कि मृत्यु पर सहज भाव से कैसे लिखा जाता है तो अज्ञेय अभी भी 'अधेरी कविताए' पढकर उनसे बहुत-कुछ सीख सकते हैं। इस सग्रह की मृत्यु पर लिखी गई कविताओ मे ऐसा कुछ भी नही है जिसे भवानीप्रसाद मिश्र 'अधेरी कविताए' मे बहुत अच्छा न कह गए हो। विशेषत अज्ञेय की कविता 'फूल हर बार आते हैं' भवानीप्रसाद मिश्र की कविताओ की बहुत पुरानी सवेदना के फीके कार्बन से उतारी गई दसवी प्रतिलिपि लगती है।

अज्ञेय की प्रेम कविताए भी बासीपन से बोझिल हैं। इनमे एक भी पक्ति शायद ऐसी नही है जो उनकी कविताओ के अभ्यस्त पाठक को हर्ष-विस्मित

कर सके। "अच्छा था/मन का अवसन्न रहना/भीतर-भीतर जलना/किसी से न कहना'''कभी उभर भी आती हैं/कसकें पुरानी/यह थोड़े ही कि नैन कभी/पसीजे नहीं ?", "मैं अनन्य/एकाकार/जैसे प्यार", "यह क्या मैं तुमसे, या जीवन से/या अपने से छला गया ?", "कैसे कहूं कि किसकी याद आई ? चाहे तड़पा गयी ?" तो दिवंगता नयी कविता के अंतिम उच्छ्वासों के रूप में सुपरिचित है, किंतु इस तरह की पंक्तियों को क्या कहा जाय—

तुम क्या जानो
कितनी लंबी होती है रात
अकेली
सिसकी की !

और

यह जाने का छिन आया
पर कोई उदास गीत
अभी गाना ना।
चाहना जो चाहना
पर उलाहना मन में ओ मीत !
कभी लाना ना।

अज्ञेय यदि ऐसी कविताएं लिखना चाहते हैं तो उन्हें कौन रोक सकता है किंतु यह सलाह उन्हें दी जा सकती है कि अभी कुछ दिन सोम ठाकुर, बालस्वरूप राही, वीरेंद्र मिश्र और नीरज के सान्निध्य में बैठकर कुछ सीख लें, फिर यह सब लिखें। (आशा है कि आप यह सब पढ़ते हुए अज्ञेय के मौन सिद्धांत को हमेशा स्मृति में रखे हुए हैं और स्वयं अपने निष्कर्षों पर पहुंच रहे हैं)। ऐसी कुछ कविताओं में आत्मावसाद (self-pity) भी पैठ गया है जो अज्ञेय की कविता के नये पतन-बिंदु का द्योतक है। अज्ञेय की कविताओं में उनके विचार उनकी अदाएं, उनका दर्शन-शास्त्र, उनका प्रेम, उनका 'देना' और 'लेना', समय को लेकर उनकी सतही विचारणा आदि इतने अधिक परिचित हैं कि अब वे घिलरो हो गए हैं और उनके काव्य-व्यक्तित्व का 'फॉसिलीकरण' करते हैं। सच कहा जाय तो उनकी कविताओं को बिना हंसे और साथ-साथ बिना दांत पीसे पढ़ना मुश्किल होता जा रहा है। किसी भी दी हुई स्थिति के प्रति उनकी कुछ 'स्टॉक रिस्पॉन्सेज' हैं और उन्हीं के परम्यूटेशन-कांबिनेशन के आस-पास वे घूमते हैं। फिर भी 'छातियों के बीच' कविता दिलचस्प है क्योंकि वह उनके कवि-व्यक्तित्व पर अद्भुत प्रकाश डालती है। मैं पूरी कविता उद्धृत नहीं करना चाहता इसलिए सारांश से ही काम चलाऊंगा : 'पहले वह उसकी दोनों छातियों के बीच नाक गड़ाकर कहता था कि यहां मेरा घर है। फिर

जब नाक उन छातियों के बीच घर बना चुकी तो वह कैदी होकर छटपटाने लगा।' किंतु विचित्र धर्म-संकट था—

छातियों के बीच
और कुछ नही, इसी रहस्य का घर है।
माथा क्यो वहा टिका है?
क्योंकि नही तो नाक जाने का डर है!

साफ है कि इन पंक्तियो मे नाक जाने के भद्र पुरुषोचित भय की वजह से एक पाखंडपूर्ण जीवन जीना श्रेयस्कर समझा गया है। अपने दूसरे रूप मे यही प्रवृत्ति सृजनशक्ति चुक जाने पर भी आदतन सृजन की हरकत दुहराने की वध्या नियति मे प्रस्तुत होती है क्योंकि कविता कविता न रहकर 'नाक का सवाल' बन जाती है।

संग्रह को शीर्षक देने वाली कविता 'सागर-मुद्रा' ग्यारह चरणो मे विभक्त है जिसमे कभी सागर का 'सी-बीच' वाला भौतिक स्वरूप है और कभी 'अगाध' 'अपार' आध्यात्मिक स्वरूप। करोड़ों भारतवासियो की तरह मेरा वास्ता भी समदर से बहुत कम पड़ा है और शायद इसीलिए मुझे सागर का प्रतीक ओढ़ा-हुआ-सा लगता है। फिर इस कविता मे सागर सिर्फ एक 'प्रॉप' है, बातें वही दुहराई गई हैं जो सागर-विहीन अन्य कविताओ मे हैं। यह सागर भी होमर, शेली, ह्यूगो, ह्विटमैन, मैल्विल, कोनरैड या हेमिंग्वे का सागर नही है, नितात अवास्तविक, पालतू, किनारे-किनारे से देखा गया नखदंतविहीन समदर है।

'सागर-मुद्रा' के अंतिम पृष्ठो म किसी अज्ञातकुलशील ग्रीक कवि की कुछ कविताओ के अनुवाद दिये गए है। मूल कविताए 'अज्ञेय' को कैसे मिली इसका किस्सा साहित्यिक 'थ्रिलर्स' की श्रेणी मे रखा जा सकता है जिसे पढ़कर श्रद्धालु कटकित हो सकते है। ग्रीक अज्ञेय को नही आती, लैटिन आती है (बतर्ज शेक्स-पियर के लिए कहे गए 'लिटिल लैटिन, लैस ग्रीक' मुहावरे के) और उसी के सहारे यह अनुवाद दिए गए है। अनुवाद कैसे हुए है यह कहना बेमानी है जब तब मूल कविताओ के स्तर पर बात न हो। यह एक दुखद अचभा है कि इन कविताओ का स्तर बहुत सामान्य है और समझ मे नही आता कि कई शानदार आधुनिक ग्रीक कवियो के होते हुए, जिनकी कविताओ को हिंदी मे लाना बहुत आवश्यक है, एक गुमनाम ग्रीक कवि की ऐसी कविताओ के अनुवाद क्या दिये गए। यह मैं मानता हू कि हिंदी पाठको को विदेशो की अच्छी कविताओ की आवश्यकता है किंतु 'देलॉस से एक नाव' सरीखी कविताओ का वह मुहताज नही। विदेशी भाषाओ मे छपा हुआ सभी कुछ हिंदी मे अनुवाद्य नही होता, भले ही वह एक रहस्यमय, दोनो ओर से फटी लैटिन टीका युक्त ग्रीक पोथी से ही क्यों न बरामद हुआ हो। फिर अधिकाश अच्छे कवि जब दूसरे कवियो

से अनुवाद करते हैं तो अक्सर देखा गया है कि वे कविताए स्वय उनकी कविताओ से भिन्न होती हैं, उदाहरणार्थ लॉवेल और एलियट द्वारा किये गए अनुवाद लिए जा सकते हैं। अनुवाद पर बहस लबी हो सकती है किंतु अच्छे अनुवादक अनुवाद मे यहां-वहा ऐसा कुछ रहने देते है कि बगैर किसी कलात्मक नुकसान के मूल कविता सभवत एकदम अतर्धान हो जाती है। ग्रीक नामो को छोड दिया जाय तो ये अनूदित कविताए अज्ञेय की निष्प्राण मौलिक कविताए ही लगती हैं।

'क्योकि मैं उसे जानता हू' की पहली सात कविताए स्वतत्र रूप मे रखी गई हैं जबकि शेष कविताओ को दो शीर्षको के अतर्गत बाटा गया है। पहली सात कविताओ मे भी प्रेम, मृत्यु और 'अपने गाने' के उद्देश्य और साफल्य पर विचार किया गया है। कहना न होगा कि यह सग्रह 'सागर-मुद्रा' की कविताओ सरीखी कविताओं का ही दूसरा सग्रह है। इन पक्तियो मे यदि आप कोई गहरा 'तत्त्व' खोज सकें तो खोजिए—"मैं मरा नही हू,/मैं नही मरूगा,/इतना मैं जानता हू,/पर इस/अकेला कर देने वाले विश्वास को लेकर/मैं क्या करूगा/यह मैं नही जानता।" एक और पहेली बूझिए—"देश-देश में बधु होंगे/पर बहुए नही होगी/(राम की साखी के बावजूद); किसी देश मे वह मिल जाएगी/जहा बधु कोई नही होगा।" स्पष्ट है कि ऐसी पक्तियो का कोई कवितार्थ नही है, इनमे एक छद्म गूढता भरने की कोशिश की गई है। ऐसी कविताए न केवल काव्याभास की कविताए है बल्कि दर्शनाभास की कविताए भी हैं, इसलिए न ये काव्य के स्तर पर सफल है और न विचार के स्तर पर। ये उसी तरह की कविताए है जिस तरह की भारतीय ज्ञानपीठ से राह पाकर कुछ मुनिगण लिख रहे हैं और सग्रहो मे प्रकाशित करवा रहे हैं। सामान्य भारतीय मस्तिष्क हमेशा से एक छिछले दर्शन की ओर आकृष्ट होता रहा है और कोई कारण नहीं है कि अज्ञेय की ऐसी कविताओ मे विश्वविद्यालयों मे बैठे विचार-शत्रु कोई दर्शन न खोज निकालें। किंतु कविता की अनिवार्य शर्त यह है कि कविता कुछ और होने से पहले एक कविता होनी चाहिए। विचार या दर्शन को लेकर कविता नही हो सकती यह कोई नहीं कहता, किंतु अज्ञेय के पास न तो कोई बहुत गहरी दर्शन-दृष्टि है और न बहुत गहरी काव्य-दृष्टि। वे अनुभवों के ऊपरी आवरणो को कविता समझ बैठते हैं और विचारो के नाम पर जो गड्डमड्ड प्रत्येक भारतीय को घुट्टी मे मिलता है उसे दर्शनशास्त्र बना लेते हैं। मृत्यु का वरण, अपना समर्पण आदि भारतीय भाग्यवाद की बडी बारीक परिणतियां हैं। 'मैं नही गाता, गीत मुझसे गाया जाता है' कहना 'मैं कुछ नही करता, मुझसे कराया जाता है' के बराबर है और इस मुहावरे मे हर तरह का बचाव है।

सग्रह के दूसरे खड 'प्रार्थना का एक प्रकार' मे अज्ञेय अपनी इसी मौलिक भूमि पर खडे हुए हैं किंतु यह जमीन बडी फिसलन-भरी है। अज्ञेय की ये कविताए समय से पहले समर्पण की, अपरिपक्व अभिव्यक्ति की, 'कच्चा अनार, वच्चा बुलबुल' की कविताए हैं—

वहा, भीतर, पीठिका पर टिके
प्रसाद से भरे तुम्हारे हाथ
और मैं यहा देहरी के बाहर ही
सारा रीत गया।

(देहरी पर)

बार-बार हम मिले, हसे, हमने बातें की
फिर भी यह सच है कि हमने कुछ किया नही।

(चितवन)

अज्ञेय की कविता का प्रेम इतना अपार्थिव और वायवीय क्यो है इसका सकेत भी इन पक्तियो मे मिलता है

रात
एकाएक टूटी मेरी नीद
और सामने आयी एक बात
कि तुम्हारे जिस प्यार मे मैं खोया रहा हू
जिस लबी, मीठी नशीली धुध मे
मैं सब भूल कर सोया रहा हू
उसकी भीत जो है
वह नही है रति
वह मूलत है पुरुष के प्रति
नारी की करुणा
अगाध, अबाध करुणा
फिर भी—राग नही, करुणा।

(रात चौंध)

उनकी कविताओ मे 'रति' और 'राग' का स्थान 'करुणा' ले लेती है और करुणा से उत्पन्न परपीडक-आत्मपीडक (sado-masoch) तत्त्व कविता मे चले आते हैं

वह सपना मीठा होगा
उसम इन दर्दों की यादें भी
एक अनोखा सुख देंगी
दु ख-सुख सब मिलकर रस बन जावेगा।

(आश्वस्ति)

ठठाती हँसियों के दौर—मैंने जाने हैं
कहकहे—मैंने सहे हैं।

× × ×

मुँद जाती हैं आँखें, रुँधता है गला
सिहरता है गात
अनुभूति ही मानो भीतर से भीतर को
बही जाती है, बही जाती है, बही जाती है।

(बही जाती है)

एक आह
टूटी हुई
सर्द
एक सहमा हुआ सन्नाटा
और दर्द
और दर्द
और दर्द

(रात में)

यह दर्दवाद परपीड़ा-आत्मपीड़ा के इस चरम स्वरूप को प्राप्त होता है, जो पता नहीं क्यों इलाहाबाद के प्रायः सभी कवियों में भी पाया जाता है :

पहले
मैं तुम्हें बताऊंगा अपनी देह का प्रत्येक मर्मस्थल
फिर
मैं अपने दहन की आग पर तपा कर
तैयार करूंगा एक धार-दार चमकीली कटार
जो मैं तुम्हें दूंगा
फिर मैं
अपने दक्ष हाथों से तुम्हें सिखाऊंगा
करना वह कुशल, निष्कंप, अचूक वार
जो मर्म को वेध जाय

× × ×

नहीं तो और क्या है प्यार
....
किसी के आगे
चरम रूप से वेध्य हो जाने के ?

(वेध्य)

कब तू अपनी नियति को पकड पाकर
तकिया लगाकर सोयेगा ?

मुलाहिज़ा हो कि अज्ञेय के यहा देश का अपनी नियति को प्राप्त करना तकिया लगाकर सोने के बराबर है। सच भी तो है, जिन जिन व्यक्तियो ने अपने-अपने तकिये पा लिए हैं उन्होंने अपनी नियति भी पा ली है।

'क्योकि मैं' इस खड की एक दिलचस्प कविता है क्योकि 'छातियो के बीच', 'दिया हुआ न पाया हुआ' तथा 'आजादी के बीस बरस' की तरह इसमें भी ऐसी पक्तिया हैं जो अज्ञेय के कवि-मानस पर प्रकाश डालती हैं—

क्योकि जिसने कोडा खाया है
वह मेरा भाई है
क्योकि यो उसकी मार से मैं भी तिलमिला उठा हू,
इसलिए उस कोडे को छीन कर तोड दूगा।
मैं इनसान हू और इनसान वह अपमान नही सहता।
क्योकि जो कोडा मारने उठायेगा
वह रोगी है
आत्मघाती है
इसलिए उसे सभालने, सुधारने,
राह पर लाने,
खुद अपने से बचाने की
जवाबदेही मुझ पर आती है
मैं उसका पडौसी हू
उसके साथ नही रहता।

ध्यान से देखें तो मालूम होगा कि बात कोडा मारने वाले से प्रारभ नही होती, कोडा खाने वाले से होती है। यानी ध्वनि कुछ ऐसी है कि यदि कोई कोडा खा रहा है तो उसमे कही उसका भी कुसूर है। खैर, यह बडा सवाल है और इसम न भी जाए तो भी दृष्टव्य है कि अज्ञेय कोडे को छीनकर तोड देने की बात करते हैं। कोडे चलाने वाले हाथ के विषय मे कुछ भी नही कहते। वह इसलिए कि कोडा मारने वाला तो उनकी मनोविज्ञानवादी दृष्टि मे 'रोगी' है (उसे कुछ और मानना कई असुविधाओ को जन्म देता !) और उनकी मशा उसे सभालने, सुधारने, राह पर लाने' की है। किंतु यदि वह वास्तव मे रोगी है तो अतिम दो पक्तियो मे छिपी क्षमा-याचना की क्या आवश्यकता है ? यह माना कि आप उसके साथ नही रहते, किंतु पडोस तो बदल सकते है, कोडा खाने वालो के पडोस मे आकर रह सकते हैं जहा से कोडे को छीनकर तोडना शायद ज्यादा आसान होगा। जाहिर है कि इन पुनीत पावन पक्तियो

के पीछे आसानीपरस्त भूदानी छिपा हुआ है। यह भयावह सच्चाइयो से भाग-कर पवित्रतावादी चोगे मे मुह छिपाना है। शायद शेक्सपियर के 'जूलियस सीजर' मे सिना ऐसा ही कवि रहा होगा जिसे क्रुद्ध भीड ने कुछ नही तो उसकी घटिया कविताओ की ही वजह से परलोक पठा दिया।

सो अपनी व्यग्य कविताओ मे भी अज्ञेय सफल नही हो सके है। उनके पास न तो वह अनुभूति है, न वह मुहावरा और न वे इरादे जो उन्हे एक सही 'सामाजिक' कवि बना सकें। सामान्य मनुष्य कभी-भी उनकी कविता का विषय नही रहा और उसे विषय बनाने की उनकी इधर की ये कोशिशें व्यर्थ सिद्ध होती हैं। उनके इन प्रयत्नो को आज की युवा कविता के दबाव के कारण ओढे गए फैशन के रूप मे ही देखा जाएगा। उनके पास वह भाषा ही नही है जो आज के जमाने के सत्य को जबान दे सके। क्या कोई विश्वास कर सकता है कि ये पक्तिया 'दीन' और 'नगो' के लिए लिखी गई होंगी—

अगाध असीम महासागर मे
झुके हुए तारो की ओट मे
प्रवाल-कीटो का गढा हुआ
एक छेदो-भरा छल्ला
वसुधरा की नाभि,
आद्य मातृका की योनि।
ऐसी ही उपेक्षा मे तो
बार-बार, बार-बार, बार-बार
अजर अजस्र शृखला मे
जनमेगा पनपेगा
ऐल मनु अजित, अधर्ष,
अविधीत, आत्मतन्त्र।

(लौटते हैं जो वे प्रजापति है)

इन दोनो सग्रहो की समस्त कविताए पढ जाने के बाद भी यदि किसी भी कविता की कोई भी पक्ति आपको प्रभावित नही करती तो इसमे आपका कोई दोष नही है। मुझे नही मालूम कि सन् चालीस के आस-पास कौन-से तत्त्व अज्ञेय की कविता को छायावाद से अलग करते थे—मुझे यह अवश्य मालूम है कि आज उनकी और पत की कविताओ मे फर्क करना मेरे लिए कठिन और अनावश्यक हो गया है। अज्ञेय का कथ्य और जिन शब्दो मे वे उसे कहना पसद करते हैं दोनो इतने नकली, निरर्थक और अप्रासगिक हो गये हैं कि उनकी कविता आज के पाठक को एक विचित्र क्रुद्ध लज्जा से भर देती है। मुझ जैसे लोग, जिन्होने अज्ञेय के विषय मे बहुत सुन रखा था, पिछले कई

वर्षों से उनकी कविता को ऐसे चमत्कार के रूप मे देखते रहे हैं जो कभी सच नही हुआ। दरअसल अज्ञेय मे न कोई बहुत बडा विकास हुआ है और न कोई बडा पतन। हाल ही म प्रकाशित 'चिंता' की रचनाओ मे वह सब है जो उनके परवर्ती सग्रहा म अलग-अलग वेश-भूषा मे देखा जा सकता है। अज्ञेय की कविता और हिन्दी कविता का विलगाव पहले ही प्रारभ हो चुका था और अब दोना क बीच इतनी बडी खाई है कि या तो आज का पाठक इधर की सारी कविता को नकार दे और अज्ञेय की दर्शन प्रेम, त्याग आदि से आच्छादित दुनिया म चला जाय और बुरी खबरें सुनना बद कर दे या फिर उनकी कविता को नकार दे और अभिव्यक्ति क सारे खतरे उठाने वाली कविता मे ही जिए और मरे। यहा यह नही कहा जा रहा है कि आज एक व्यक्तिगत विश्व की कविता अवाछनीय हो गयी है किंतु अज्ञेय का ससार मूलत गढा गया और सतही ससार है जिसे नियमित करने वाले विश्वास एकदम वेध्य हैं। वे प्रारभ स ही वैसे थे। उनकी कविता अब अपने ही ससार मे कैद हो गई है। उसे यदि कुछ प्रश्न व्याकुल करते हैं तो वे शाश्वत' किस्म के हैं जिनका उत्तर नेति, नेति' मे ही प्राप्त होता है। इस समय जब हिंदी कविता एक अभूतपूव मोर्चे पर खडी हुई है, अज्ञेय की कविता को कविता मानना और उन्हे कवि कहना अपने जमाने की पेचीदगियो, हकीकतो और तकाजो को समझने स आत्मघाती इन्कार करना है।

जिंदगी का बांस और कविता की कटी पतंग

भारतभूषण अग्रवाल हिंदी कवियों की उस पीढ़ी से हैं जिसे अपने जीवन में ही ऐतिहासिक हो जाने का सौभाग्य प्राप्त है। उनकी कविता पिछले तीस वर्षों तक फैली हुई है और उसमें 'विकास' देखने की इच्छा या स्मरण कर पाना मेरे लिए कठिन होता यदि मेरे पास उनके सारे कविता संग्रह होते। उनके समवयस्कों से भी उनकी 'तुलना' करने की इच्छा हो सकती थी यदि उन सबकी कविताएं मेरे पास होतीं। बहरहाल चूंकि भारतजी की कविता में ऐसे प्रमाण मिलते हैं कि उसने 'विकास' किया है, इसलिए उसे देखने' की इच्छा का शमन तो आसानी से हो जाता है। रही उनकी कविता का उनके समवयस्कों की कविता के समानान्तर रखने की बात यह संभव है कि यहां अप्रासंगिक हो किंतु उनकी कविता के एकाध पहलू पर बात करने के लिए दूसरे कवियों की चर्चा शायद जरूरी होगी, इसलिए न केवल उनके समवयस्कों पर वरन् परवर्ती कवियों पर भी कभी-कभी दृष्टिपात कर लेना नागवार नहीं होगा।

यह एक सुखद आश्चर्य है कि जहां पुराने और नये कवि औसतन हर दूसरे वर्ष कविता-संग्रह छपवाकर हिंदी के सार्वजनिक कूड़ेदान में डाल आते हैं, भारतजी छः वर्षों के बाद अपने नये संग्रह[1] में केवल इक्कीस कविताएं लेकर उपस्थित हुए हैं। लंबी कविता की इस महामारी में इक्कीस कविताएं भी कम भारी न होतीं, किंतु हर्ष का विषय है कि लंबी कविताओं की संख्या इस संग्रह में सिर्फ दो है। काव्यस्फीति के इस युग में एक वरिष्ठ कवि का यह संयम अप्रत्याशित है और सम्भवतः एक खास किस्म की जागरूकता का परिचायक है। किंतु यह समझने में शीघ्रता न की जाए कि संग्रह में कविताओं का कम

१ एक उठा हुआ हाथ (कविताएं) - भारतभूषण अग्रवाल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

होना उनकी अच्छी होने की भी निशानी है। 'स्पीक मो दैट आई मे नो यू' मे घबराकर अपंगमें मौन भी गाया जा सकता है। भारतजी की ये कविताए संख्या मे कम भले ही हो, उनके कवि-व्यक्तित्व को ये करीब-करीब उतनी ही हानि पहुचा रही हैं जितनी इनसे दुगनी-तिगुनी खराब कविताए पहुचाती। उनकी कविताओं की 'तुलना' गिरिजाकुमार माथुर की कविताओ के साथ करना भारतजी के साथ किंचित् अन्याय करना है और माथुर के साथ अत्य-धिक उपकार क्योकि भारतजी की कविताओं को दो-एक चीजें मुक्ति देती हैं (जिनका जिक्र बाद म होगा) जो माथुर म दूर-दूर तक नही हैं, फिर भी दोनों की कविताओं मे आज की हिंदी कविता का सबसे खतरनाक जरासीम—फेहरिस्तबाजी— अपने असाध्य रूप में उपस्थित है "क्या-क्या नही छान डाला/क्या-क्या नही खूदा है/कहां-कहा नही घूमा/किस-किसरो नही जूझा/कौन-सा है बियाबान जो नही रूधा है!/भागा हू, रपटा हू, दौडा हू, घिसटा हू/पिटा हू/रोया हू/झीका हू/चीखा हू"। इसी तरह दो सौ छब्बीस पक्तिया की कविता 'परिदृश्य १६६७' मे कम-से-कम अरमठ स्थल ऐसे हैं जहा या तो कुछ 'हो रहा है' ("जनतत्र की टकी फट गई है", सिसकते शहर" की "बिजली फेल हो गई है") या कुछ पूछा जा रहा है ("क्या फर्क है वेद-पाठी और आर्मी कट्रैक्टर मे ?" "मोहल्ले मे किसकी बार आती है ?")। यह ममूची कविता एक भयकर नकली रिटारिक से जनमी कृत्या है जिसम से यदि चीजा की सूची निकाल दी जाए तो बीस पक्तियो की शुद्ध कविता बचना मुश्किल है। इसकी अतिम पक्तिया हालीवुड की घटिया 'स्पेक्टेक्लिस' फिल्मों के सिनेमा हॉल तथा कान के परदे फाडने वाले 'ओवरडन' भीड-दृश्य की याद दिलाती है 'भीड/के मारे तिल धरने को जगह नही है/भीड/भीड के पीछे एक और विराट भीड/भीड के आगे नजर को पछाडती भीड/भीड के अगल मे भीड/भीड के बगल मे भीड/हरेक का मुह हरेक की तरफ है/हरेक की आखें हरेक को घूरती हैं/हरेक की बाहे हरेक से उलझी हैं/हरेक के पैर हरेक से टकराते है। हरेक आदमी हरेक को भेंटता है/हरेक आदमी हरेक पर गिरा पडता है/हरेक आदमी रास्ते पर खडा है/और हरेक आदमी रास्ता पूछ रहा है/हरेक आदमी मे।" हो सकता है कि मैं एकाध पक्ति छोड गया होऊ किंतु आप चाहे तो दो सौ पक्तिया इस तरह की और जोड दें कोई फर्क नही पडेगा क्योकि कविता की मृत्यु पहले—बहुत-बहुत पहले—ही हो चुकी है। ऐसी ही विस्तारप्रिय कविता "जहा मैं हू" है जिसकी ६५ पक्तियो मे २६ मे पहला शब्द 'और' है १४ मे 'जहा' है और ८ म 'जो' है। 'याद' कविता की पहली पक्ति "अब सब याद आता है" मुक्तभोगी पाठक को 'क्या याद आता है' की फेहरिस्त के लिए तैयार कर देती है। कुल तेरह चीजें याद आती हैं।

पूछा जा सकता है कि कवि यह फेहरिस्तबाजी क्यो करता है ? यह मैं मानता हू कि एक छोटी सी फेहरिस्त—वह परचून की दूकान मे हो या कविता मे—बहुत उपयोगी होती है। किंतु सूची बनाने वाला यदि उसे लबी करता चला जाता है तो वह उसका उद्देश्य असफल ही करता है। हिंदी के अधिकाश कवि लेकिन यह सोचते है कि उनका 'कन्वस' जितना 'विराट' होगा, उनकी दृष्टि उतनी ही 'विस्तृत' और 'पैनी' समझी जाएगी। इसीलिए वे फैंटेसी, रूपक, उपमा, प्रतीक का सूचीपत्र तैयार करते चले जाते है—कोई-न-कोई पक्ति तो उद्धरणीय होगी ! वे सोचते है कि उनका प्रत्येक अनुभव एक थाती है जिसे उन्हे कविता को सौंपना ही है। वे अनुभव के सामने विनम्र या सदाक होना नही चाहते, उसके माध्यम से अपनी नुमाइश करना चाहते हैं। वे अपने अनुभव को 'अद्वितीय' समझते है और उसे कविता नही 'जुमला' या 'फिकरा' बनाना चाहते हैं।

जुमलेबाजी जिस तरह माथुर की चादनी से इलायची चबवाती है, भारत जी से वह असबद्ध ऊलजलूल पक्तिया इकट्ठा करवाती है। हिंदी फिल्मो मे हास्य के नाम पर फलक्नुमा एक अभिनेता राजेन्द्रनाथ है जो हास्य उपजाने के लिए अडरवियर दिखाता रहता है, फिर लेडीज टॉयलेट मे घुस जाता है और वहा से खदेडे जाने पर स्त्रियों का स्विमसूट पहने स्विमिंग पूल मे गिर पडता है। स्पष्ट है कि यह सब आपकी पसलियो मे नाखून गडाकर हसाने के लिए किया जाता है। भारतजी की इन पक्तियों मे भी वह फहड असबद्धता है, यद्यपि उनका उद्देश्य अलग है "एक बहुत बडा ट्राजिस्टर/बादलो म बज रहा है।/और पौहे चराते बच्चे/उसे लग्गी से गिराने मे लगे है", "सिनेमा की 'क्यू' मे खडे/हथकटे लोगो के हुजूम पर/ट्यूबवैल हस रहे है", "अहमदाबाद और बबई मे बजती तालियो की गडगडाहट से कनाट-प्लेस के होटलो मे डास करती मिस वी० यानी भविष्यकुमारी बेहोश हो गई है," "अशोका होटल मे झूमती ब्यूटी क्वीन की टाग/इद्रधनुष की तरह/कॉटेज एम्पोरियम तक तन गई है/और उस पर टगे टैलिविजन से टपकती बूदें/बिहार पर बरस रही हैं।" इस तरह की पक्तिया शायद उन मजमो मे कारगर हो जहा 'लाल तिकोन' या 'माली-जीजा' कह देना ही हास्य के लिए पर्याप्त होता है, कविता के गभीर अध्येता के लिए तो ये नारकीय दु स्वप्न है।

भारतजी के इस सग्रह म एक भूमिका है जिसकी केवल ये पक्तिया ही उनकी कविताओं के लिए प्रासगिक है, "" एक ऐसे साहित्य का जन्म होना चाहिए था जो अगति पर व्यग्य करता और कृत्रिमता से जूझता। पर लगता है कि कलाकार का विद्रोह भी राजनीतिज्ञ की भाति केवल बाह्य रूप तक ही सीमित है; और वह व्यग्य इसलिए नही करता कि तब आत्म-व्यग्य स कैसे

बचेगा !" स्पष्ट है कि भारतजी ने इस सग्रह की कुछ कविताओ मे अगति पर व्यग्य किया होगा और कृत्रिमता स जूझने की कोशिश की होगी । किंतु व्यग्य एक खतरनाक विधा है । वह खाने की टेबिल पर की गई बातचीत नही है। ईमानदार व्यक्ति के हाथ मे व्यग्य रगीन पानी से भरी हुई पिस्तौल नहीं, दूरगामी हथियार होता है। भारतजी का व्यग्य इसलिए कारगर नही है कि वह विसगतियो स घिरे हुए व्यक्ति की छटपटाहट का व्यग्य नहीं है। उसमे वह विराट घृणा और विराट प्रेम नही है जो रघुवीर सहाय की कविताओं मे कहीं-कही झलक उठता है। उनके व्यग्य मे घूमिल के व्यग्य सरीखी मानवीय उपस्थिति का नितान्त अभाव है। उनका व्यग्य इसलिए कुद पडता है कि वह स्वय उन चीजो मे शामिल व्यक्ति का व्यग्य है जिन पर वह अपना हुनर आजमा रहा है।

रूमानी कविताए लिखने वाला कवि जब व्यग्य की ओर मुखातिब होता है तो यदि वह सजग नही रहता तो अपनी अतिशयोक्ति भरी मौलिक रूमानी आदत से व्यग्य को भी क्षति पहुचाता है। माथुर और कैलाश वाजपेयी इसके उदाहरण है। भारतजी मूलरूप स रूमानी है यह उनकी कविता 'अ-लगाव' से ही स्पष्ट है जिसमे उन्होने अपने कवि का 'असफल प्रेमी', 'अविवाहित', 'बेकार', 'रातो को छत पर टहलने वाला', 'खुबसा' और 'फीकी हसी' हसने वाला के पारम्परीण शरच्चन्द्रियन रूप मे चित्रण किया है। इसलिए सामान्यत. आत्म-व्यग्य की उम्मीद मैं उनमे नही करता था। किन्तु 'चीर-फाड' मे ऐसी कुछ पक्तिया दीख पडी जो इस बात की परिचायक है कि वे आत्म-निरीक्षण भी कर गुजर सकते है। "क्या फायदा हुआ दर्जा छह् से यह पढने मे/कि कस्तूरी मृग के कुण्डल मे बसती है ?/मैंने पूरी जिदगी भटकने मे बिताई है/और अब सब ओर स विफल होकर/जब मैं अपना कुण्डल चीर-फाड रहा हू/तो वह इस खोखल मे मिलती क्यो नही...या /—और इस सभावना से ही मैं चरमराने लगता हू—/कही ऐसा तो नही है/कि मैं कस्तूरी मृग ही नही हू/और मेरी भटकन और चीर-फाड/मात्र मेरा दभ है ?" इसी कविता का अतिम चरण भी इस तरह और स्वय के प्रति सशक्त, व्यग्यात्मक दृष्टि के लिए दृष्टव्य है जो हिंदी मे बडी दुर्लभ वस्तु है 'क्या मैं इन अनगिनत परतो को छीलकर/कभी अपना सच्चा मन नही देख पाऊगा ?/बहुरूपिया बने रहना ही क्या मेरी नियति है ?/कब तक मैं प्यार को फूल, और रोटी को खुशामद/और क्रांति को रेशमी बनाता रहूगा ? कब तक मैं सुविधा की छत पर चढा/कविता के बास स/जिंदगी की कटी पतग फासने का यत्न करता रहूगा '' कहना न होगा कि इन सारे प्रश्नो का उत्तर भारतजी के ही पास है क्योकि जो दुनिया उनके पास है वह उन्ही की चुनी हुई है। हा, यदि वे चाहे तो येट्स के साथ यह

प्रार्थना कर सकते हैं :

Grant me an old man's frenzy,
Myself must I remake
Till I am Timon and Lear
Or that William Blake
Who beat upon the wall
Till Truth obeyed his call,
A mind Michael Angelo knew
That can pierce the clouds,
Or inspired by frenzy
Shake the dead in their shrouds,
Forgotten else by mankind
An old man's eagle mind

अपने में पैठने की एक और कविता इस संग्रह में है—'चोट'—जो मुझे इस संग्रह की इनी-गिनी अच्छी कविताओं में श्रेष्ठतम लगी। कविता में उद्धरणीयता क्योंकि अब बढ़ती जा रही है इसलिए यह लिखते हुए मुझे हर्ष हो रहा है कि यह हिंदी की उन बहुत कम कविताओं में है जिनकी एक भी पंक्ति आप 'उद्धृत' नहीं कर सकते—उसे पूरा पढ़े बिना मुक्ति नहीं है। हो सकता है कि मुझे यह कविता इसलिए भी अच्छी लगी हो कि मैं स्वयं कभी 'मैं' और अन्य वस्तुओं के बीच उस रहस्यमय 'स्पेकुलेटिव' संबंध का व्यक्त करने की इच्छा रखता हूं जिसे पकड़ पाने की सफल कोशिश इस कविता में हुई है। प्रत्येक सोचने वाला व्यक्ति कभी-न-कभी इस बात से भयभीत हो उठता है कि अपने से अलग भी वह कोई और दूसरा है (यह वाक्य उस भावना का सरलीकरण समझा जाए)। श्रीकान्त वर्मा ने अपनी एकाध कविता में इसे व्यक्त करने का प्रयत्न किया है किंतु उसका उतना गहरा और रोमांचक अन्वेषण उसमें नहीं है जितना भारतजी की इस कविता में है। मानव-अस्तित्व के रहस्यों पर हिन्दी कवियों की दृष्टि कम ही गई है। 'चोट' को इस दृष्टि से हिंदी की कतिपय विशिष्ट कविताओं में रखा जा सकता है।

हिंदी कविता की वरिष्ठ पीढ़ी में भारतजी शायद एक मात्र कवि हैं जिन्होंने कविता के माध्यम से मुक्तिबोध को स्वीकारा है। यह उनकी आत्म-निरीक्षण की प्रवृत्ति का ही द्योतक है कि इस संग्रह का शीर्षक उसी कविता का शीर्षक है जो उन्होंने मुक्तिबोध पर लिखी है। मुक्तिबोध को लेकर जो अपराध-भाव भारतजी की पीढ़ी में है, या होना चाहिए, या नहीं है, यह कविता उसकी मार्मिक अभिव्यक्ति है। 'स्फटिक-पुलिन', 'चन्दन-नौकाएं', 'तार-

स्वर' आदि शब्दों से भारत जी ने सफल व्यग्य-निर्माण भी किया है। इस एक छोटी-सी कविता मे हिंदी कविता का एक कलकपूर्ण और स्वर्णिम अध्याय समाहित है। हा, 'तूफान अब थम गया है' सरीखी पक्ति खटकती है क्योकि अभी तूफान थमा कहा है।

अब नही मिलेगा' भी एक अच्छी कविता हो सकती थी। इसमे कम-से-कम पाच पक्तिया ऐसी है जो भारतजी की सामान्य काव्य-भाषा से नितात पृथक् है तथा अशोक वाजपेयी सरीखे युवा कवियो की भाषा के समीप है इसलिए सुखकर है "कभी-कभी हम अचानक आशान्वित हो उठेंगे/और एक-दूसरे को प्यार करने लग जाएगे/और हरेक के पास अधेरे की चादर होगी/और हमारी हसी जुगनुओ की तरह/बिखर जलेगी और अचानक बुझ जाएगी।" किंतु शेष कविता मे स्विमिंग पूल, सैमीनार, फाइलों आदि का जिक्र न तो इसे इधर की ही रहने देता है और न उधर की ही। 'हर बार यही होता है' की प्रथम दस पक्तिया भी इसी तरह एक उम्मीद जगाती हैं किंतु सभी कुछ साफ-साफ कह देने की लापरवाह इच्छा उसे एक सफल मच-कविता तो बनाती है, कुछ और खोजने वाले पाठक को नाराज करती है। मुझे लगता है कि भारतजी की समस्या वही है जो माचवे की है, दोनो अब कविता को जीवन के लिए 'एन्सिलरी' समझने लगे है, अनिवार्य नही। उनके लिए कविता एक 'बाइ-प्रॉडक्ट' है। इन दोनो के उपकरण ठीक हो सकते हैं किंतु 'कला' के प्रति इनका रुख अक्सर लापरवाही और कभी-कभी ताच्छिल्य-भरा है।

किंतु वे, जो कला को गभीरता से ग्रहण करते हैं, दूसरे किस्म के गड्ढे मे जा गिरते हैं। उनकी कविता से हास्य की उम्मीद तो दरकिनार, मुस्कान पाना भी असभव-सा होता है। भारतजी की कविता जहा एक ओर आत्म-निरीक्षण कर सकती है वहा दूसरी ओर उसमे एक 'सैन्स ऑव ह्यूमर' भी है। 'रस-सिद्धात', 'नियति', 'एक ख़याल—चीर्पासन के बहाने', 'ट्रैफिक पोलिसमैन' ऐसी ही कुछ कविताए हैं जिनका सयत तथा सपृक्त हास्य अनेक फैशनेबल हाइकूनुमा कविताओ से ज्यादा कारगर है। इनमे से 'ट्रैफिक पोलिसमैन' तो आज के मशीन युग मे आदमी की दुहरी-तिहरी निरर्थकता की ऊपर से हल्की-फुलकी किंतु अदर अत्यत ट्रेजिक कविता है। यह आदमी के 'प्लैन्ड ऑब्सोलेसेन्स' की कविता है।

भारतजी सरीखे वरिष्ठ कवि, कविता के लिए दो महत्त्वपूर्ण गुणो—आत्मालोचन तथा हास-क्षमता—के होते हुए भी क्यो असफल होते है? क्या वजह है कि तीस वर्षों तक कविता लिखने के बाद भी वे हिंदी कविता की प्रथम पक्तियो मे नही हैं? इन प्रश्नो का उत्तर उनकी अपनी कविताओ मे

ही मिलता है। किंतु शायद इन प्रश्नों का पूछा जाना निरर्थक है। पूछा यह जाना चाहिए कि उनकी कोई अपनी तस्वीर क्यों नहीं उभरती ? तीस वर्षों की काव्य साधना यदि अकारथ जाती प्रतीत हो रही है तो इसका समाधान शायद एलियट की इन पंक्तियों में मिलेगा जिनमें ट्वेंटी की जगह थर्टी रख देने से काम चल जाएगा—और यह ध्यान रखने से कि एलियट के कथन में जो विनम्रता है वह भारतजी के लिए वास्तविकता है

So here I am in the middle way having had twenty years—/Twenty years largely wasted the years of l'entre deux guerres/Trying to learn to use words and every attempt/ Is a wholly new start and a different kind of failure/Because one has only learnt to get the better of words/For the thing one no longer has to say or the way in which/One is no longer disposed to say it And so each venture/Is a new beginning a raid on the inarticulate/With shabby equipment always deteriorating/In the general mess of imprecision of feeling /Undisciplined squads of emotion

(फोर क्वार्टेट्स, ईस्ट कोकर, ५)

आदतन लिखते रहने की नियति

गिरिजाकुमार माथुर के काव्य-संग्रह 'जो बंध नहीं सका' में 'कलवं' पर चूंकि उन्हें शिल्पकुशल कवि सिद्ध किया जा चुका है अतएव उनके शिल्प से ही प्रारंभ करना अनुचित न होगा, हालांकि यह मुझे मालूम नहीं है कि किसी कवि के शिल्प पर बात करते समय उसके कथ्य से कैसे बचा जा सकता है। राहत की बात है कि इन कविताओं में शिल्पवैविध्य इतना नहीं है कि पूरे संग्रह को छानना पड़े—प्रथम कुछ कविताओं से ही जरूरी निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। पहली कविता 'दो पाटों की दुनिया' की पहली तीन पंक्तियों में दो शब्द 'चारों तरफ' तीन बार आते हैं, फिर हर चरण की अंतिम दो पंक्तियों में 'हम क्या करें' तथा '... के क्रम से कैसे छूटें' का उपयोग हुआ है। इसी तरह दूसरी रचना 'सत्य का अपराध : एक स्वप्न' में, जो चार चरणों में विभक्त है, प्रत्येक चरण के पहले 'मैंने देखा' तथा अंत में 'वह मेरा है' शब्द आए हैं। 'बौनों की दुनिया' में उनके शिल्प का दूसरा रूप प्राप्त होता है—'हम सब बौने हैं' कहने के पश्चात् उन्हें इस रहस्यमय वक्तव्य को स्पष्ट करने की आवश्यकता होती है और वे 'अमुक से, अमुक से भी' तिहराते हैं और फिर दसवीं पंक्ति के पश्चात् एक लंबी फेहरिस्त शुरू होती है जिसमें इसकी गिनती की गई है कि यदि हम बौने न होते तो किस क्या न मिलता ? 'इतिहास का सिंहासन' में प्रथम दो कविताओं का फार्मूला दृष्टिगोचर होता है—कविता चार चरणों में विभक्त है और प्रत्येक चरण की अंतिम पंक्ति का गठन इस तरह है—विशेषण+'दर्शक'+क्रियापद। 'इतिहास : एक वक्तव्य' में यह गणित फिर मौजूद है—प्रत्येक चरण की व्याख्यात्मक पंक्ति 'इतिहास अमुक है' की टेक है। इससे पहले कि यह कहा जाय कि मैंने संग्रह की प्रारंभिक कविताएं ही देखी हैं, अंतिम कविताओं में से 'साक्षात्कार', 'अ नया वर्ष', 'अवस्तु करणा' तथा 'सार्थकता' की चर्चा भी की जा

सकती है। 'साक्षात्कार' में प्रत्येक चरण की अंतिम पंक्ति 'अमुक ने पर अमुक किया नहीं' है, 'अ-नया वर्ष' में टेक 'इसके पहले' है, 'अवस्तु करुणा' में यह 'जब मेरी/मिरे अमुक में' है और 'सार्थकता' में यही 'अमुक हो गई अमुक' है। विस्तार-भय से अन्य उदाहरण देना संभव नहीं है।

स्पष्ट है कि माथुर ने अपने इस 'शिल्प' को एक आदर्श रूप में स्वीकार कर लिया है वरना वे इतने दफा उसका उपयोग न करते। किंतु आदर्श को लत बनते देर नहीं लगती और कविता में आदत का अर्थ है एक सुविधाजनक मैनरिज्म का शिकार हो जाना। परिणामतः माथुर अपनी इस तरह की कविताओं में एक साँचाबद्ध कवि बनकर रह गए हैं। इन कविताओं का एक चरण पढ़कर ही मुक्त हुआ जा सकता है क्योंकि वही मूवमेंट अगले प्रत्येक चरण में अपनी समस्त दुर्भाग्यपूर्ण एकरसता के साथ आपका रास्ता देख रहा है। कवि साँचे तभी तैयार करता है जबकि उसमें बैठा हुआ स्रष्टा अपनी ऊर्जा खो बैठा हो और केवल आदतन लिखते रहना उसकी नियति बन गई हो या लेखन उसके लिए 'अस्तित्व का संकट' का प्रश्न बन गया हो। हिंदी के वरिष्ठ लेखकों के लिए 'सृजनरत' रहना कलात्मक आवश्यकता नहीं होती, अधेड़ अभिनेत्री द्वारा बार बार 'कमबैक' की त्रासद कोशिश होती है। इस प्रयत्न में कोई अध्यात्मवाद—रूमानी-रहस्यवाद-गांधीवाद और यहाँ तक कि अस्तित्ववाद भी ओढ़ लेता है, कोई सीधा गाली गलौज पर उतर आता है और कोई कवियों से उत्तेजना प्राप्त करने के लिए 'रिजुविनेशन' के आयोजन करता है।

माथुर की प्रिय 'डिवाइस' एक ही विचार को बदले हुए शब्दों में दुहराने-तिहराने की है और जबकि वे यह समझते होंगे कि इससे कविता में 'वैविध्य' तथा 'वैराट्य' आ रहे हैं, सचाई यह होती है कि प्रत्येक दूसरे शब्द के बाद कविता अनावश्यक रूप से लंबी और सतही होती चली जाती है। 'समझाने' की यह कोशिश कवि की आत्मरति अथवा अहमन्यता का दूसरा स्वरूप है। वह यह समझता है कि उसे शब्दों का जादू आता है और वह सर पर चढ़कर बोलेगा, किंतु शब्दों के 'रोप-ट्रिक' की रस्सी एक सीमा तक ऊँची पहुँचती है और उसके बाद द्रुत गति से नीचे आकर उसी के गले में लिपटने लगती है और भाषा तथा अर्थ में संभावित इंद्रजाल की परिणति हास्यास्पद अवमूल्यन में होती है। माथुर की कविताओं में तरह-तरह के शब्द भरे पड़े हैं और उनकी मुद्रा कभी बहुत आक्रामक तथा कभी बहुत मृदु प्रतीत होती है, किंतु यह प्रतीति शाब्दिकता के अलावा कुछ भी नहीं है। संभव है कि माथुर की कविता में पाठक को रोष, व्यंग्य आदि दीख पड़ें किंतु वह रोष और वह व्यंग्य एक भाषणबाज का है, सकारण टूटते हुए व्यक्ति का नहीं—

"राहें सभी अंधी हैं
ज्यादातर लोग पागल हैं
अपने ही नशे में चूर
वहशी हैं या गाफिल हैं
खलनायक हीरो हैं
विवेकशील कायर हैं
थोड़े से ईमानदार हैं
लगते सिर्फ मुजरिम हैं

इन पंक्तियों में एक आत्मतुष्ट पवित्रता का स्वर यदि पहचाना नहीं जा रहा है तो शायद इसलिए कि भाषा वक्तव्यबाजी तक पहुंच चुकी है जिसका रजामंद शिकार प्रत्येक मध्यमवर्गीय बन चुका है जो बहुमुखी गालियां देने के पश्चात् पुनः सुबह वही दुम हिलाता हुआ दृष्टिगोचर होता है। यह एक किस्म की घटाटोपी भाषा है जिसका इस्तेमाल कमजोरी ढके रखने की धोखादेही के लिए हुआ है और दूसरी ओर एक दूसरे तरह का बिम्बवादसमोतवादी घटाटोप है—

"सघन भी, मुलायम भी
अस्खलित, अनिर्वच
गोल-गोल-गोल क्षणों में वलय
गंधपार अन्वितियों में उठती
एक स्निग्ध, सिल्वन लय
बीज धारण को मुड़ते चरणों से पूर्व की
मद उदित मुग्धता
आसन्न अमरता में बद होता
दूरी में लौटा हुआ एक लाल उत्तर"

संभव है इन पंक्तियों का कोई 'अर्थ' हो, किंतु शब्दों और बिंबों का जो गोल-गोल गोलमाल इनमें हुआ है वह उसका 'आनंद' उठाने की फुर्सत भी देगा ? स्पष्ट है कि माथुर को अभी भी अपनी काव्यभाषा का संतुलन प्राप्त करने की सख्त जरूरत है।

संग्रह किन्हीं अज्ञात कारणोंवश तीन खंडों में विभक्त है— शायद 'विविधता' का तकाजा रहा हो—और बीच का खंड, जिसका शीर्षक 'काल दृष्टि' है, अपने विषय में कहता है "काल की चतुर्थ विभा में रहस्यमय बिंबों में प्रवेश करने वाली कुछ रचनाएं, जिनमें देश काल-सहति की स्पर्श-पार सूक्ष्मानुभूतियां प्रस्तुत की गयी है, कलात्मक अभिव्यक्ति की एक सर्वथा अछूती दिशा तथा प्रेरणाभूमि इन रचनाओं द्वारा साहित्य में प्रथम बार उद्घाटित हुई है।" सड़कों पर अभी भी ऐसे मदारी दीख जाते हैं जो पहले कपड़े के एक टुकड़े का साफ

बनाते हैं और उसके फन मे एक बीडी फसाकर ऐलान करते है कि वे उस कपड के साप से बीडी पिलवाएगे। कहना न होगा कि तमाशा पूरा हो जाता है, शीशिया बिक जाती है और वह साप बीडी नही पीता। 'काल दृष्टि' की कविताओ को एकाधिक बार पढ चुकने के बाद मुझे ऐसा कही नही लगा कि कोई सर्वथा अछूती दिशा' उनके द्वारा 'साहित्य मे पहली बार उद्घाटित' हुई हो। विश्व साहित्य म 'ए कनैक्टिकट यैकी इन किंग आर्थर्स कोर्ट' तथा 'द टाइम मैशीन' से लेकर साइस-फिक्शन कॉमिक्स तक तथा 'कैटोज' मे पाउड से लेकर 'फोर क्वार्टेट्स' मे एलियट तक 'काल' पर बहुत-कुछ बहुत पहले लिखा जा चुका है। हा, यदि 'साहित्य' का अर्थ माथुर के यहा 'केवल उनका साहित्य' होता हो तो बात अलग है। जो भी हो, इस खड की पहली कविता 'समानातर-सत्य' : "निर्जन दूरियो के/ठोस दर्पणो मे/चलते हुए/सहसा मेरी एक देह/तीन देह हो गयी/उगकर एक बिंदु पर/तीन अजनबी साथ चलने लगे/अलग दशाओ मे/और यह न ज्ञात हुआ/इनम कौन मेरा है" मे न तो 'देशकाल-प्रकृति' पार की गई है, न यह एक सर्वथा 'अछूती दिशा' है और न ही यह 'प्रथम बार उद्घाटित' हुई है। खडित व्यक्तित्व पर श्रीकात वर्मा की कविता 'दूसरे का डर' कही ज्यादा अनुभव के समीप है और तात्कालिक है।

"छायावाद मे न केवल शब्द, चित्रभाव, बिंबभाव और काल्पनिक उद्भावनाओं की एक रीतिकालीन रूढि स्थापित हुई, अपितु शब्द-नाद भी रीतिकालीन कवियो की भाति अनुप्रासात्मक रहा। कलकल-टलमल, सरसर-मर्मर, पुलकन-सिहरन, लगकुल-कुलकुल अथवा लहर-छहर, अरुण-तरुण या दल-बादल आदि एक नही सैकडो उदाहरण इसी ओर सकेत करते है।" और यह दुखद आश्चर्य की बात नही तो और क्या है कि ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जो इस ओर सकेत करते हैं कि माथुर के इस सग्रह के अतिम खड की अधिकाश कविताए नव्य-छायावादी हैं। हिंदी के जिन कवियो मे अभी भी छायावादी सस्कार कसमस कर रहे है वे इस भ्राति मे गिरफ्तार हैं कि महज लिरिक शब्द तथा बिंब प्रयोग से लिरिक कविता बन जाती है—पिछली शताब्दी मे स्विनबर्न भी इसका शिकार हुआ था। वसत की पहली शाम' की अतिम पक्तिया : 'फूले हुए नीबू रातरानी की महक का/महीन मद/बहुत दूर बजता/मुलायम भनक आर्केस्ट्रा/अगुलिया तुम्हारी हैं' विश्लेष्य है। 'महक' का आर्केस्ट्रा 'बज' रहा हैं। अब चूकि दुर्भाग्यवश ऑर्केस्ट्रा वास्तविक जीवन मे 'सुना' जा सकता है 'सूघा' नहीं—किंतु माथुर का आग्रह है कि उसे 'सूघा' जाए—इसलिए कविता मे जो पक्ति अर्न्तविरोधी है वह 'नाक' को 'कान' की उपमा देने से ताल्लुक रखती है। बात यहा समाप्त हो जाती तो भी ठीक था किंतु अतिम पक्ति 'अगुलिया तुम्हारी हैं' हमारे सभलते हुए मासूम आश्चर्य को भौंचक्केपन मे

बदल देती है। माथुर हमें विश्वास दिलाना चाहते हैं कि नीबू रातरानी की महक का जो सुदूर आर्केस्ट्रा है वह 'तुम्हारी अगुलियों' से छेड़ा जा रहा है। मैं जानता हू कि आज के कवि की सफलता का एक मापदंड उसका कम समझ मे आना भी है किंतु पाच छोटी पंक्तियों मे इतना कन्फ्यूजन पैदा करना माथुर की ही उपलब्धि है।

इस अनुभव के बाद 'रूप-विभ्रमा चादनी' की प्रथम दो पंक्तिया ही हमे सचेत कर देती हैं। छरहरी चादनी समझ मे आ भी जाए, किंतु उसका स्लीवलैस ब्लाउज क्या हो सकता है ? फिर यह चादनी 'मुह' मे मद-मद 'इलायची चबाती' है, 'सेक्स रचे' (?) नखरे से अठखेलिया करती है, तत्पश्चात् 'हाथों को झुलाती' हुई, 'रुकती' 'मुस्काती', 'नीचे कुछ देख फिर तिरछी नजरो मे पुतलिया उठाती है', चादनी के यह सब कर लेने के बाद बरबस कवि को स्मरण हो आता है—'तुम्हारी' भी तो आदत कभी चादनी-सी थी। इस प्यारी-प्यारी कविता मे गडबड क्या है ? पहले तो चादनी का 'मानवीयकरण' या 'मानवीकरण' किया गया—उस पर तमाम अभिसार-गुण लादे गए और शरीरीकृत किया गया—तदुपरात इस मानवीकृत अपार्थिवता से ठोस, जीवित, वास्तविकता का मुकाबला किया गया। बात कुछ इस तरह की है कि पहले प्रेतो मे आदमियो के गुण स्थापित कर दिए जाए और फिर आदमी से भेंट होने पर कहा जाए—अरे, पहले तो तुम प्रेत सरीखे हुआ करते थे!

स्पष्ट है कि गिरिजाकुमार एक बिंबप्रिय कवि है किंतु यदि कवि मे बिंब-नियोजन की शक्ति न हो तो 'कोणार्क पर तीसरा पहर' सरीखी कविता प्राप्त होती है। पहली दो पंक्तिया कुछ आकृष्ट करती है (माथुर को कविता प्रारभ करना अवश्य आता है, यह बात और है कि पहले मोड के पहले ही स्टियरिंग व्हील हाथों से निकल जाता है)—'यह मदिर/एक पथरीला पेड़ है'—किंतु प्रत्येक अगली पंक्ति के साथ बिंब अविश्वसनीय होने लगता है और 'एक और गढ़ी हुई शिला दूर तक उड जाती है' तक पहुचते-पहुचते अपनी भ्रम-सिद्धता मे असह्य हो जाता है। गिरिजाकुमार की कविता की तमाम बाजीगरी 'शिलाओं' को 'टूटे पत्ते सरीखे उडाने' मे सफल नही हो सकती और फिर पुन इसी बिंब को दुहराने का भला और क्या अर्थ हो सकता है—"एक विशाल पत्थर तरु/और सहसा छूटकर उठते दूर तक/पत्थर के पत्ते/चारो ओर"—कि कवि को यह अपनी समस्त दुर्भाग्यपूर्णता मे प्रिय है और वह उसे पाठक को 'सेल' करना चाहता है।

'गध लेने लगी आकार' फिर एक विकृत रचना है। अपने शब्द-चयन, गठन, शैली आदि मे यह स्व० माखनलाल चतुर्वेदी की दुरूहतर कविताओ का स्मरण दिलाती है। शब्दो की लकदक मे जब अर्थ खो जाता है तो मतलब यही

होता है कि कवि अपने कथ्य-दारिद्र्य को मध्ययुगीन जिरहबख्तर पहना रहा हैं। 'गंध लेने लगी आकार' एक प्रकृति-चित्र से अधिक कुछ भी नहीं है, किंतु उसे ऐसी छायावादी भाषा, बिंब-जाल और रूमानियत दिये गए है कि संप्रेषणीयता पलायन कर गई है और 'नहूं', 'दिपनार', 'जरी', 'रोमद्रार', 'किशमिशी अशुको', 'चपई चोवनी', 'सवला गए', 'छूमुई', तथा 'गुथीली मुराई' के लिजलिजे दलदल म अर्थ का हाथी हौदे तक घस चुका है।

गिरिजाकुमार तथा उनके हमउम्र कवि के सामने उनकी वरिष्ठता एक विचित्र समस्या उपस्थित करती है। वे इकट्ठे तीन चीजें होना चाहते हैं—अग्रणी, समसामयिक तथा जैसे वे वास्तव में हैं (अंतिम उनकी लाचारी है)। अग्रणी होने की आकांक्षा उन्हें इस या उस आंदोलन का सरक्षक बनने तथा उसके अनुरूप कविता छापने, लंबे-चौड़े मैनिफेस्टो, स्पष्टीकरण तथा 'भूल-सुधार' छाया करने तथा इतिहास-पुरुष (इतिहास-थीम पर कविताओं की बाढ आना आकस्मिक नहीं है) कहलाने को बाध्य करती है, समसामयिक होने की ललक उनसे अपनी रजतवर्ण कविताओ में आधुनिकता का खिजाब लगवाती है—उनके पास न आज को महसूस करने की शक्ति है और न ही उसको अभिव्यक्त करने वाले बलिष्ठ शब्द, जबकि जैसे वे हैं वैसा होने की उनकी नियति उनसे इस तरह की कविताएं लिखवाती है जो विदेंद्र-रसेंद्र आचार्यद्वयी को भले ही रुचती हो, आज की स्थितियों से उतनी ही दूर है जितना आकाशवाणी से आकाश। अपनी करुण स्थिति को यह न पहचानते हो, इतने 'नाईव' ये नहीं है, किंतु रचनाओं की संख्या और ग्रंथो के वजन से ही हिंदी-साहित्य मे दाखिल हो सकने की परंपरा म इनका विश्वास निराधार नहीं है। इन्हें यह बतलाने से भी कोई लाभ नहीं होगा कि १९४३ में 'फोर क्वार्टेट्स' के प्रकाशन के बाद १९६५ मे मृत्यु तक एलियट का 'इधर आपने क्या नया लिखा है' वाला कोई संग्रह न आने के बावजूद भी उसे लोग विश्व-कवि मानते रहे हैं।

खत्म नहीं होती हरी दूब

यह हिंदी कविता का दुर्भाग्य ही रहा है कि इसमें लगातार ढर्रे से अलग लिखते आ रहे कवियों की ऊपरी प्रवृत्तियों को ही ग्रहण कर उन्हें एक सुविधाजनक लेबल लगाकर अलग कर दिया जाता रहा। पिछले कुछ वर्षों में यह साजिश शमशेरबहादुर सिंह के साथ 'कवियों का कवि' विशेषण जोड़कर की गई, और इसके बाद 'हल्के फुल्केपन' का लेबल लगाकर भवानीप्रसाद मिश्र की कविता से छुट्टी पाने की कोशिश हुई। इधर एक ऐसा ही सुनियोजित कार्यक्रम मुक्तिबोध को भी साहित्यिक लिम्बो में भेज देने का बनाया जा रहा प्रतीत होता है।

भवानीप्रसाद मिश्र (न केवल अपनी कविता में बल्कि) आयु में भी एक प्रौढ़ कवि हैं और उन्होंने हिंदी कविता के कई उतार-चढ़ाव देखे हैं। किंतु प्रारंभ से ही उनकी अपनी शैली रही है जिसने बहुत धीरे-धीरे हिंदी कविता को कहीं-न-कहीं प्रभावित अवश्य किया है। वे सरल शब्दों तथा सरल शिल्प के कवि रहे हैं—यह भी कहा जा सकता है कि उनकी कविताओं में शिल्प ढूंढना उतना ही कठिन है जितना बोल चाल की भाषा में—यद्यपि उनमें बोलचाल की भाषा के कोई दोष मौजूद नहीं है। 'अंधेरी कविताएं' के पूर्वगामी दो संग्रहों में भवानीप्रसाद मिश्र की वही तस्वीर नजर आती थी जो उनके आलोचकों ने उन्हें बख्शी थी और जिसके आदी उनके पाठक हो चुके थे—एक भले आदमी की जो मध्यम मार्ग पर चलता है जो पाठकों की समझ पर कतई दबाव नहीं डालता, जो रोजमर्रा की कविताएं लिखता है, जिसके पास कोई फैशनेबल दर्शन नहीं है और जिसकी पंक्तियां काव्य-प्रवृत्ति, आदोलन, स्कूल सत्य अथवा सिद्धांत को उजागर करने के लिए उद्धृत नहीं की जा सकतीं। सहयोगी कवि खुश थे कि एक ऐसा भी कवि है जो उनका प्रतियोगी नहीं है, आलोचक उनकी कविताओं को देखकर राहत की सांस लेते थे, और

पाठक जिसे 'जी हा हुजूर मैं गीत बेचता हू' ठीक-ठीक समझ मे आता था, कम-से-कम एक कवि को समझ पाने के गर्व से पुलकित होता था।

१९६८ मे उनका दूसरा सग्रह 'चकित हैं दुख' प्रकाशित हुआ था जिसने उनकी 'भवानी भाई' वाली इमेज को कमोबेश गहरा ही बनाया था। किंतु यदि हाइन्डसाइट' का सहारा लेने दिया जाय, तो उस सग्रह की कुछ कविताओ मे निस्सदेह कुछ ऐसा था जो उनकी कविताओ मे आमतौर पर नही पाया जाता था—'कई बार/लगता है/बहुत लवी खिच रही है/जीवन की शाम '' चाहता हू इसलिए/कि अब न जिए/कुछ भी मेरा/न शरीर/न शरीर से किए हुए काम/मेरा तमाम/डूब जाए अपार लहराते हुए किसी सागर में' (लगता है चाहता हू) 'अभी मैं लगभग एक विदूषक हू/किंतु यह नाटक चुके/तो कौन जाने मेरा मन/हसने-हसाने पर न रुके' (इसके बाद) 'पहाड के ढलान पर/किसी ने मुझे धक्का दे दिया/और मेरी जिंदगी ही बदल गई/मेरी टाग टूट गई/और अब मैं लगडाकर चलने लगा हू/अभिव्यक्ति अब/थोडी कोशिश मे हुआ करेगी' (अभिव्यक्ति) 'मन म/अधेरे का/एक धब्बा था/जो/फैलता चला गया/और सब अधेरा है' (अधेरे का एक धब्बा) 'जैसे आज/जब शाम को/नक्कारे पर चोट पडी/तो न जाने कितनी गहराई म पडा हुआ दर्द/जैसे तडप-कर/उठ खडा हुआ' (जैसे आज) 'मजा आएगा/जब कमजोर और अकेला एक आदमी/गायेगा गीत/निराशा का गली-गली म/गूथकर अधेरे की कली-कली मे/बुझती हुई चिनगारी की किरनें'/और भी मजा आएगा/जब ताकतवर लोग बगलें झाकेंगे/जब एक अधेरा खाएगा/दूसरे सवेरा झाकेंगे' (समाधि से लौटकर)।

निस्सदेह 'अधेरी कविताए' पढते हुए भवानीप्रसाद मिश्र की वह तस्वीर, जिसके हम अभ्यस्त थे, धुधली पडती है और एक दूसरी ही शख्सियत धीरे-धीरे उसकी जगह लेती है। 'अधेरी कविताए' का कवि जनगणमनरजन करने वाला विदूषक नही है—या कहा जा सकता है कि विदूषक अवश्य है किंतु चेहरे का बहुरगा ग्रीज-पेंट अब धुल गया है, घटियो वाली तुर्रेदार टोपी कही गिर चुकी है और कानो तक फटी मुस्कराहट के पुछ जाने के बाद बरसो से हसते-हसाते चेहरे पर खिची रेखाए अब गहरी दिखाई पड रही हैं। भवानीप्रसाद मिश्र जानते है कि एक अरसे तक एक प्रत्याशित भूमिका निभाने के बाद उसे बदलना एक जान-बूझकर मोल लिया जा रहा जोखिम है, किंतु वे यह भी बखूबी जानते हैं कि यदि इस समय न बदला गया तो शायद देर हो चुकी होगी—'शब्दो म कहना है/और कहना है अभी/शुरू किए देता हू/तमाम जोखिमे ली हैं/एक और जोखिम लेता हू।'

प्रश्न उठ सकता है कि कौन-सा जोखिम? आखिर किस तरह की कविताए

है ये जिन्हे लिखना कवि एक जोखिम समझ रहा है ? एक कवि जब उस मुहावरे से हटकर लिखना प्रारभ करता है जिसके अभ्यस्त उसके पाठक तथा आलोचक हो चुके हैं तो वह उन्हे उलझन म डालता है क्योकि अब तक जो सुविधा उन्ह उपलब्ध थी वह उनसे छिनी जा रही प्रतीत होती है और वे यह देखकर नाराज होते है कि कवि 'विद्रव' नही कर रहा है। अपने सुरक्षित श्रोता वर्ग को अपनी कविता म हुए किसी मूलभूत परिवतन के लिए तत्पर करना एक फिफ्टी-फिफ्टी जोखिम है। खैर यदि कवि ओजस्वी है तो वह अपने श्रोता-वर्ग से गुस्ताखियाँ कर सकता है और उनकी रुचियों को परिष्कृत परिवर्तित भी कर सकता है। किंतु समसामयिक हिंदी कविता म भवानीप्रसाद मिश्र की पिछली और प्रस्तुत कविताए एक और जोखिम उठाती हैं। पिछले कुछ वर्षों मे एक साथ समाज, राजनीति तथा सरकार का लक्ष्य बनी हुई हिंदी कविता भवानीप्रसाद मिश्र सरीखे कवियो से दूर ही रही है। शब्द स्फीति अभिव्यक्ति का आत्महत्या अराजकतावाद नारेबाजी, विद्रोहबाजी तथा आदोलनबाजी के इस स्वर्णिम युग मे जहा अपने साप्ताहिक म अपने तथा अपना के प्रकाशित-अप्रकाशित ग्रथो को वर्ष के सर्वोत्तम ग्रथ घोषित करवाना कवियो तथा कवि-आलोचको का काव्य धर्म बन गया हो अपने निजी दुख की नितात ईमानदार कविताए बगैर आखें तरेरे और मुह पर फेचकुर लाए लिखना एक जोखिम नही तो और क्या है। शब्दो के जगल म जिसे हिंदी कविता कहा जाता है इतनी सरल अभिव्यक्ति एक खतरा ही है—जो कह सकता ■ इन दिनो/उसमे न गाने का दुख है/न मुस्काने का/खाली शामो मे/उसे पता भर जा सकता है/उलझन भरी दृष्टि/उसके बाद गडायी जा सकती है/अधेरापन समेटते हुए/आसमान पर' (शरीर और कमलें कविता और फूल)।

घोषित रूप से 'अधेरी कविताए बहुत ही गहरे निथरे हुए दुख की तथा जीवन के अत से साक्षात्कार की कविताए है किंतु भवानीप्रसाद मिश्र ने यह दुख कुछ इस तरह आत्मसात् किया है कि उसका जो भी अश कविताओ तक पहुचता है, वह एक आत्ममुग्ध की रुग्ण चीख नही बन पाता उसम शिशिर की रात सुदूर बजते हुए किसी अनाम तन्तुवाद्य का सगीत है जो हमारे शरीर पर भय के काटे नही उभारता एक अकथ उदासी का मौन प्रदान करता है। उसम कहीं भी घोर निराशा अतिरजित भय अथवा मृत्यु प्रेम नही है। इन कठिन क्षणो मे भी भवानीप्रसाद मिश्र उस वस्तु को नही भूले है—जिसने मुझे शब्द दिए है/और समुदर जिससे/लहर लेता है/क्या चीज है यह/जिसे छूकर हवा इठलाती है/और पौधा जिसे पाकर फूल देता है/क्या चीज है यह/अदम्य और कोमल और कठोर (बेचारी चेतना)।

दुख तथा अत को स्वीकारती कविताओ की साहित्य मे कभी कमी नही

रही और उनमे से अधिकाश शूरवीरता से परिपूर्ण हैं या छद्म स्वीकारवाद-स्वागतवाद से। यह शूरवीरता और दर्शन अमावस की रात बस्ती के बाहर सदिग्ध पुल के नीचे से गुजरने पर बजायी जाने वाली सीटी के बहुत निकट होता है। दुःख का अहसास भवानीप्रसाद मिश्र मे भी है किंतु उसमें न तो दैन्य है न पलायन—एक बहुत साफ तथा स्निग्ध स्वीकृति है—'गुलदस्ता/मत रखो मेरे/सिरहाने/एक छोटा फूल/दे दो हाथ मे/ज्यादातर तो इसलिए/कि अब बहुत है/एक फूल भी/बल्कि फूल की पखुरी/और थोडा इसलिए/कि बहुत है अब/गुलदस्ता मेरे लिए' (गुलदस्ता)। बहादुरी के समीप ये पक्तियां पहुचती प्रतीत होती हैं—'अवाक् देखने की/दिखते रहने की घडिया/मगर जब आ गई हैं/तब वह भी बताएगे करके/लगभग चुप्प गाएगे/भर देंगे हम शोर से ऊपर सूनापन/दूना मन कर देंगे हम/सिर पर टूटती तकलीफो का/ऐसे/करते ठीक गाने के दिनो का/जैसे गाकर मुक्त कठ से' (चुप्पी गाएगे), किंतु इनके पीछे जो विवशता है तथा विदूषकत्व का पुट है वह इन्हें त्रासद तथा व्यग्यपूर्ण बनाता है।

भवानीप्रसाद मिश्र की इन कविताओ सरीखी कविताओ मे खतरा यह होता है कि कवि जब इन्हें शुद्ध भावनाओ के रूप मे सर्वप्रथम अनुभव करता है (और यदि वह एक कमजोर कवि तथा कमजोर इसान होता है तो) वह इनकी करुणा मे स्वय इतना डूब जाता है कि कवि-कर्म के दूसरे तकाजो को भूलकर कच्ची भावुकता को ही कविता के रूप मे प्रस्तुत करने के प्रयास मे हास्यास्पद पतन को प्राप्त होता है। वह सोचता है कि उसे 'विचलित' करने वाले ये भाव निस्सदेह कविता होगे ('आह से उपजा होगा गान' इत्यादि) और वह पाठक को भी 'द्रवित' करेंगे। यही पर 'द मैंन हू सफर्स' तथा 'द मैंन हू क्रिएट्स' का अतर स्पष्ट होता है। कवि, यदि वह वास्तव मे कवि है तो, जब अपने 'दुःख' पर कविता लिख रहा होता है तब वह दुःख से उतना ही दूर या पास होता है जितना एक जागरूक कारीगर अपने कच्चे माल के। यह सुख की बात है कि भवानीप्रसाद मिश्र का दुःख 'सन्निपात' अथवा 'समाधि' शैली का नही है, यदि उनका व्यक्ति लगातार उसे भोग रहा है तो उनका कवि उसे अभिव्यक्त करने की समस्याओ से निपट रहा है—'पुरानी आदिम/चिनगारी की तरह/फिकना चाहिए/अर्थ पुराने से पुराने शब्दो मे से/नए सदर्भों मे "सदर्भ पुराने हो सकते हैं/नए हो सकते हैं/यह सयोग है/कि मन मेरा/आज एक नया सदर्भ है/मगर फिकना तो चाहिए/पुराने ही शब्दो से/नये इस सदर्भ की चिनगारी।'

यह भी द्रष्टव्य है कि यद्यपि सग्रह मे पचपन कविताए है और किसी मे भी शुद्ध आह्लाद नही है किंतु दुःख का आभूषणीकरण भी अनुपस्थित है। कवि को मालूम है कि दुःख कोई अभूतपूर्व चीज नही है और न ही अकेले उन्ही को

यह प्राप्त हुई है। यही अहसास शायद उनकी व्यथा को इतना विरल, व्यक्ति-मुक्त तथा काव्य-स्वीकार्य बना सका है—'सोचता हूं/मगर विस्तार में नहीं जाता मैं/इस सोच के/क्योंकि सचमुच जितना हुआ है/उससे अधिक होता रहा है/ जब से हुई है दुनिया/तब से।' गुरु-गंभीर शब्दों से बचने की आदत भवानीप्रसाद मिश्र को आज की कविता के अधिकांश दोषों से बचा ले गई है इसलिए मृत्यु को इन सीधे शब्दों में स्वीकारते हुए—'पड़ो राख होने को आए/ बुरा इसमें कुछ नहीं है/बुरा यह है/कि मन राख होने से घबराये/मैं खुश [illegible] कि यह नहीं हो रहा है।' वे शाब्दिक दार्शनिकता से मुक्त होकर कह सके हैं—'याने अब मैं/न कोई क्षण पाना चाहता हूं/न खोना/पाने और खोने की प्रक्रिया से/उदासीन हो चुका हूं मैं/और बचे हुए क्षणों में/अगर वे बचे ही हैं/ इतना ही चाहता हूं/कि कोई पकड़ न पाए/कि यह आदमी/वक्त काट रहा है।'

एक रचनाधर्मी कृती अपनी रचनाओं में ही जीवित रहता है और उन्हीं में मरता है—'अबाध ठीक बात/कही जा सकती है/केवल अबाध ठीक कविता में/वही कहने के लिए/जिंदगी जीता रहा/और वही कहने के लिए/अब चाहता हूं/नयी एक जिंदगी/नया एक देह। कविताएं ही कवि का पलायन होती हैं और शक्ति स्रोत भी। जहां कवि कविता में मरता है, वहां कविता में ही उसका पुनरारोहण भी होता है—'मगर ये सब/अर्थात् विकल्प ये सारे/सातवां मौसम/ शरीर का स्वास्थ्य/अथवा नया देह धारण/संभव दिखते हैं/केवल कविता में/ कविता में सब-कुछ संभव है। जीवन की कविता में अदम्य आस्था रखते हुए, दुखों से जूझते तथा मृत्यु की आंखों में देखते हुए भवानीप्रसाद मिश्र जानते हैं कि मृत्यु कभी नहीं होती

खत्म नहीं होता पेड़ों का हरहराना
मरकर मैं क्या करूंगा

खाली गुफा के सामने
मरना होगा तो हरी दूब पर
मरूंगा हरे झाड़ की छाया के नीचे

डायरी के पन्नों पर तब तक
सिर्फ तारीख नहीं
रहेगी

कविता की धारा बहेगी
अभी और कुछ दिनों
कुछ पहरों कुछ पलों

रघुवीर सहाय पर एक अधूरी टिप्पणी

'दूसरा सप्तक' मे सकलित कविताओ से लेकर 'हसो हसो जल्दी हसो' की रचनाओ के बीच २५ वर्षों से भी अधिक की दूरी है। पच्चीस वर्ष बहुत होते हैं—एक कवि के लिए, एक भाषा मे रचे गए साहित्य के लिए और उस देश के लिए जिसमे वह कवि तथा वह साहित्य रहते हैं। एक-चौथाई शताब्दी मे विकास की बडी गुजाइश है। रघुवीर सहाय मे विकास हुआ है या नही, यह शायद इसी बात से जाना जा सकता है कि 'सीढियो पर धूप मे' (१९६०) मे उनकी जो कविताए सकलित थी उनके मुकाबले 'दूसरा सप्तक' (सपादित १९४९, प्रकाशित १९५१) की उनकी कविताए निस्तेज लगने लगी थी और 'आत्महत्या के विरुद्ध' (१९६७) के बाद तो वे शोधार्थियो के लिए ही प्रासगिक रह गई थी। इसके बरक्स 'आत्महत्या के विरुद्ध' मे ऐसी कई रचनाए थी जो 'सीढियो पर धूप मे' की कविताओ का तर्कसगत तथा सुखद प्रसार लगती थी। 'दूसरा सप्तक' की उनकी कविताए अब क्यो लगभग भुला दी गई है? इस प्रश्न का सक्षिप्त उत्तर तो यह हो सकता है कि कवि उन्हें लिखते समय बहुत कमउम्र (२०-२२ वर्ष या इससे भी कम) था और उस चयन मे बहुत सारा किशोर-कृतित्व रहा होगा। फिर यह भी कि 'दूसरा सप्तक' के सपादक ने अपनी 'रुचि' के अनुरूप चुनाव किया होगा।

'सीढियो पर धूप मे' की कविताओ की सराहना हुई है और १९६० के आस-पास ऐसा एक समय था जब रघुवीर सहाय की पाच-छ कविताए या उनमे से उद्धरण तत्कालीन कविता पर लिखे गए प्राय. प्रत्येक लेख मे मिल ही जाते थे। 'दूसरा सप्तक' की उनकी रचनाओ पर उस समय के आलोचको ने क्या कहा यह पूरी तरह से पता लगाना मुश्किल है और शायद अनावश्यक भी, किंतु यह अवश्य है कि 'सीढियो पर धूप मे' के बहुत कम समीक्षको ने उस

वहुत बडी दूरी का जिक्र किया जिसे रघुवीर सहाय तय कर चुके थे। उनकी 'अनुभूति' को 'वैचारिकता' या 'वैचारिकता' को 'अनुभूति' कब और कैसे प्राप्त हुई—या वह पहले ही उन्हे प्राप्त थी लेकिन 'दूसरा सप्तक' उनकी उस तरह की रचनाए समाविष्ट करने मे असफल रहा—ये वे प्रश्न हैं जिनका उत्तर आशिक रूप से तो स्वय उनकी कविताओं से निचोडा जा सकता है किंतु पूरी तरह से जानने के लिए (जो शायद सभव नही है) साहित्येतर, रचनेतर सदर्भों मे भी जाना होगा। 'दूसरा सप्तक' की कविताए भी वहुत कम है, सिर्फ १४ और उनमे से अधिकाश या तो प्रकृति-चित्रण है या 'प्रेम' की किसी स्थिति के आकलन। उनकी भाषा बहुत 'स्थिर' है और वहुत कम जगहो पर ही कवि के अपने शब्द दिखाई देते हैं। दस वर्षों के लम्बे अतराल के बाद 'सीढ़ियों पर धूप मे' एक नए रघुवीर सहाय का परिचय कराता है जिसमे रघुवीर सहायपन है, एक विलक्षण आत्मविश्वास है जो दर्प नही है, उसके पास नए शब्द, नई शैली, नया वैविध्य और, सबसे बडी बात, चीजों को लेकर अपना सोच है जो हर देखी, सुनी, अनुभव की गई चीज पर काम करता है और उसे उसके अनेक नए अर्थ लौटाता है।

यह कहना कठिन है कि अनुभूति से विचार उपजता है या विचार से अनुभूति—या ये दोनो अलग-अलग है भी या नही—किंतु रघुवीर सहाय की कविताओ के बारे मे जो एक बात कही जा सकती है वह यह है कि वे गहरे अर्थों, मानवीय अनुभूति तथा मानवीय विचार की रचनाए हैं। हिंदी और विश्व मे 'दर्शन', 'आदोलन' और 'आस्थाए'—जिनमे से अधिकाश भगुर और परिहार्य थे—आए और गए किंतु रघुवीर सहाय की कविताए उनसे न केवल अप्रभावित रही हैं बल्कि उनके लिए चुनौती-सी बन गई है। 'प्रयोगवाद', 'नई कविता' 'सर्रियलिज्म' 'अस्तित्ववाद', प्रगतिवाद', 'अकविता' आदि आकर चले गए लेकिन रघुवीर सहाय की कविता उनकी आश्रित नही रही, सुविधाप्रेमी आलोचको ने भले ही उन पर कोई ठप्पा लगाने की कोशिश की हो। रघुवीर सहाय को न उपनिषद् खीचते हैं और न सार्त्र, न मार्क्स न कार्ल पापर। मानव-अस्तित्व के 'शाश्वत' प्रश्नो मे उनकी कोई दिलचस्पी नही है। वे बहुत स्वस्थ अर्थों मे मानवीय इहलोक के कवि है।

इहलोक का मोटा अर्थ हम लगा सकते हैं मानवीय इच्छाए, आवश्यकताए तथा सबध—हालांकि शायद ये पर्यायवाची शब्द ही हैं क्योकि मानवीय सबध मानवीय आवश्यकता होते हैं और दोना ही मानवीय इच्छाओ से उपजते हैं। हमे मालूम है कि रघुवीर सहाय ने अपनी काव्य-यात्रा प्रकृति और प्रेम से प्रारभ की। युवा कवि यदि इनसे आरभ करे तो इसमे आश्चर्य क्या—और जब बात पच्चीस वर्ष पहले की हो तो और भी कम। किंतु हिंदी और विश्व की

अन्य भाषाओं में मिलाकर सैंकडों कवि ऐसे होंगे जो प्रकृति और प्रेम में ही—एक आसान किस्म की प्रकृति और एक आसान किस्म के प्रेम—मुब्तिला हो रहे। यानी उन्हें जगत मति नहीं व्यापी। यही फर्क है जो 'अचल' को 'अचल' और रघुवीर सहाय को रघुवीर सहाय बनाता है।

कोई कवि कुछ दूसरे समकक्ष कवियों से अलग और उस समय लिख रहे अधिकांश कवियों से बेहतर कैसे और कब बन जाता है? यह जान पाना बहुत आसान नहीं है लेकिन रघुवीर सहाय का कवि 'सीढ़ियों पर धूप में' की कविताओं को लिखते समय उस निर्णायक क्षण को पीछे छोड गया था। 'सीढ़ियों पर धूप में' में कुछ कम नहीं, अठहत्तर कविताएं हैं। कोई और कवि होता तो इतनी कविताओं को हिंदी के चौराहे पर ले आने की उपलब्धि के परिश्रम के फौरन बाद लस्त होकर गिर पड़ा होता और शायद ये कविताएं भी भुला दी गई होतीं। लेकिन उन कविताओं को उस समय पढ़ने का सुख कुछ और तो था ही, आज भी उन्हें फिर पढ़ा जा सकता है। यह बात और है कि उनमें से कुछ तो खालिस चुहलबाजियां थीं और कुछ इसलिए भी लिखी गई थीं कि *कवि अपनी अस्मिता पा लेने की वजह से स्वाभाविक अतिरिक्त उल्लास का* अनुभव कर रहा था और किसी भी क्षण, किसी भी तजुर्बे को कविता में बदल सकने की सफलता को दुहरा रहा था। रघुवीर सहाय का, या ऐसे किसी भी कवि का जिसने एक नई भाषा और शैली या शैलियां प्राप्त कर ली हों, उत्साह पाठकों और समीक्षकों को प्रभावित करता ही। जब कोई असामान्य रूप से श्रेष्ठ कृति सामने आती है तो एक अरसे तक वह एक सामूहिक आल्हाद को जन्म देती है। उसके चलते कृतिकार की छोटी-मोटी खामियां नजरअंदाज कर दी जाती हैं—या उस समय उन पर नजर जाती ही नहीं। बहुत कठोर मापदंडों का इस्तेमाल करें तो 'सीढ़ियों पर धूप में' की शायद एक-तिहाई कविताओं को अब भुलाया जा सकता है, कुछ को किसी पंक्ति, किसी छंद या किसी शरारत के लिए उद्धृत किया जा सकता है, किंतु कम-से-कम बीस कविताएं उसमें ऐसी हैं जो रघुवीर सहाय के प्रत्येक प्रतिनिधि संकलन में हमेशा रखी जाएंगी।

'सीढ़ियों पर धूप में' के बाद रघुवीर सहाय के जो दो कविता-संग्रह आए हैं (उनका संयम या आलस्य विलक्षण है—पच्चीस वर्षों में वे सिर्फ तीन बार कविताएं लेकर आए—काश, अज्ञेय, माथुर या आज के जमाने के जगूड़ी से ही वे कुछ सीख लेते।) उनके बीज हमें उपरोक्त बीस कविताओं में मिल जाएंगे। ऊपर इहलोक की बात कही गई है। 'सीढ़ियों पर धूप में' की इन *सारभूत* कविताओं में रघुवीर सहाय का अपना संसार हमें मिल जाता है। यह दुनिया है स्वयं एक व्यक्ति की, पिता, भाई, बहिन, प्रेयसी, भीड़, मुहल्ला, घर-गिरस्ती अच्छाइयों, बुराइयों, संगीत, अकेलेपन, मूर्खों, मार तमाम लोगों, ममता, दया,

करुणा की। इसमे यह बात भी शामिल करनी है कि यह १९६० के आस-पास के भारत का भी ससार है और मूलतः यह गाव का ससार नही है बल्कि कस्बे या शहर के निम्नमध्यवर्ग का ससार है जो हिंदी के अधिकाश कवियो का ससार रहा है। भले ही वह उनकी कविता मे अनुपस्थित रहा हो।

'निम्नमध्यवर्ग' नामक कोई चीज होती है यह नही मालूम किंतु पढे-लिखे निर्धन परिवार शायद स्वय को यही कहना अच्छा समझते हैं। इस वर्ग की त्रासदी यह है कि यह भुखमरी की हद तक पारिवारिकता बनाए रखना चाहता है। असहाय तो वह होता ही है और उस पर चारो ओर से मार पडती है। सतत् अभाव, बेकारी, कम या एक समय भोजन, जवान होती हुई कुवारी बहिनें या बुआए, पिटकर या अपमानित होकर लौटते हुए भाई, बूढे होते हुए पिता, ढहता हुआ खपरैलो वाला खडहरनुमा घर आदि से इसका प्रगाढ परिचय रहता है और इससे परे सारी दुनिया बहुत क्रूर या बहुत ज्यादा लगती है। ऐसे किसी परिवार मे यदि किसी के भाग्य मे कवि होना बदा है तो परिवार, स्त्रियो और सताए गए लोगो के प्रति अदम्य सहानुभूति उसे अनायास और प्रचुर मात्रा मे प्राप्त होती है।

सहानुभूति के बहुत सारे खतरे हैं। कभी वह आत्म-दया बन जाएगी या सिर्फ दूसरो पर 'दया' करने वाली करुणा। वह या तो एक हमेशा रिसता हुआ घाव बन जाएगी जिसे प्रदर्शित कर कुछ कमाया जा सके या दयालु की दयालुता —एक आभूषण। अपने एक रूप मे वह ससार के समस्त पीडित जनो के लिए एक वायवीय भावना बन जाएगी और दूसरे रूप मे केवल अपने आस-पास के लोगो पर ही खर्च की जाने वाली राशि। सहानुभूति अक्सर एक और काम करती है और वह है अपने पात्र को शाश्वत 'बेचारा' बना देना। यानी कई व्यक्ति ऐसे होते हैं जो जब वे अपनी सहानुभूति या करुणा किसी को देते हैं तो चाहते है कि जिसे वह दी जा रही है वह अपना सारा व्यक्तित्व खो दे और सिर्फ असहाय, लाचार बना रहे और उन्हे पुण्य कमाने देता रहे। ससार की अधिकाश सरकारो, सस्थाओ, धनाढ्यो तथा मध्यवर्गीय व्यक्तियो मे ये भावनाए प्रबल रूप मे विद्यमान रहती है।

रघुवीर सहाय मे मानव के प्रति गहरी सहानुभूति है इसमे लेशमात्र भी सदेह नही है। यदि यह कहा जाय कि निराला के बाद हिंदी मे सहानुभूति और करुणा की कतिपय अत्यत विचलित कर देने वाली कविताए उन्होने ही लिखी हैं तो शायद यह अतिशयोक्ति नही होगी। 'सीढियो पर धूप मे' से उनकी 'यही मैं हू', 'शक्ति दो', 'मेरा एक जीवन है', 'थके है', 'आह, कितनी अच्छाइया', 'दे दिया जाता हू' आदि ऐसी ही कविताए है और 'आत्महत्या के विरुद्ध' मे 'अकाल' (पहली पद्रह पक्तिया), 'हरी गहरी रात', 'चढती स्त्री',

'सब्ती औरत' (पहली ग्यारह पंक्तियां) और अन्य कई कविताओं में लिखी हुई पंक्तियां द्रष्टव्य हैं। आदमी या औरत की समसामयिक फजीहत पर उपजी यह स्वस्थ करुणा तथा सहानुभूति 'हंसो हंसो जल्दी हंसो' की 'पानी पानी', 'आज का पाठ है', 'सेब बेचना', 'रामदास', 'हिंदू पुलिस', 'दर्द', 'अधूरे काम', 'काला नंगा बच्चा पैदल', 'आमार सोनार दिल्ली' आदि कविताओं में स्पंदित हो रही है।

किंतु कोरी सहानुभूति—वह कितनी भी खालिस और ईमानदार क्या न हो—कितनी दूर तक कारगर होगी ? सहानुभूति एक ऐसा कदम होता है जो अपनी सीढ़ी पर ही चुक जाता है। रघुवीर सहाय की 'सीढ़ियों पर धूप में' की कविताएं करुणा और ममता से अवश्य भरी हुई थीं किंतु उनकी ये भावनाएं केवल अपने स्वजनों तक ही सीमित थीं। किंतु जैसा कि सोमदत्त की एक कविता में कहा गया है, स्वजनों की पीड़ा की पहचान से ही प्रारंभ कर हम सार्वजनिक पीड़ा तक पहुंचते हैं। 'सीढ़ियों पर धूप में' से सहानुभूति, करुणा, ममता का स्रोत वह अवश्य निकला है किंतु अभी उसे अनेक चट्टानें फोड़नी हैं, यद्यपि अंतिम कविता 'दे दिया जाता हूं' में उन चट्टानों के धीरे-धीरे चटखने का पूर्वाभास अवश्य है।

पता नहीं कितनी बार और किस किसने यह कहा है कि पानी एक बड़ा हथियार है। ऊपर मैंने सहानुभूति का स्रोत लिख दिया है इसलिए इसी रूपक को आगे बढ़ाते हैं। यदि यह स्रोत पसरकर सरोवर बन गया तो सीमित हो जाएगा, चारों ओर से घिर जाएगा और सुरक्षित हो जाएगा। वह शस्त्र नहीं रहेगा बल्कि सुरक्षा का मोहताज हो जाएगा। किंतु यदि यह गतिशील रहता है तो पहाड़ों को अपनी आरी से काट देगा और घाटियों को चीर देगा।

१९६० से १९६७ के बीच हिंदी कविता को कुछ हुआ और रघुवीर सहाय की कविता को भी। या ऐसा भी कह सकते हैं कि कुछ अलग-अलग कवियों में एक साथ कुछ परिवर्तन हुए और उन्हीं परिवर्तनों से १९६० के बाद की कविता का एक मिजाज बना। वे परिवर्तन क्यों हुए और अन्य कवियों में कैसे हुए ? इसमें जाना यहां संभव नहीं। यही कह सकते हैं कि एक लंबे 'डिसोसिएशन ऑफ सेन्सिबिलिटी' के बाद 'रिअसोसिएशन ऑफ सेन्सिबिलिटी' हुआ। इसके कुछ आभास निराला में मिलने लगे थे, शमशेर में भी वे थे, मुक्तिबोध में भी इस पुनर्मिलन का एक महत्वपूर्ण पहलू था। किंतु अज्ञेय में वह नहीं था और घड़ी को पीछे करने की तमाम कोशिशों के बावजूद १९६० के बाद की कविता ने अपनी अस्मिता, कविता की अस्मिता प्राप्त की। हिंदी में आधुनिक 'सेन्सिबिलिटी' का प्रादुर्भाव—सही अर्थों में आधुनिक और बहुमुखी आधुनिकता का आगमन—१९६० के आस-पास ही हुआ मानना चाहिए।

अब वह क्या चीज है जो आधुनिकता की निशानी है—उसे बौद्धिकता कह लें, व्यग्य की पहचान कह लें, आदमी के अस्तित्व की मौलिक सासत का एहसास कह लें, चीजो के कई पहलुओ को अलग-अलग या एक साथ देख लेने की कूवत कह लें (और चाहे तो इस फेहरिस्त को और लबी कर लें) किंतु यह सच है कि 'सीढियो पर धूप में' और 'आत्महत्या के विरुद्ध' के बीच रघुवीर सहाय के विचार-प्रसार तथा अनुभूति मे एक महत्वपूर्ण फर्क आया। और जैसा कहा जा चुका है यह फर्क अलग-अलग ढग से हिंदी के प्राय. प्रत्येक उल्लेख्य कवि मे आया। रघुवीर सहाय में यह परिवर्तन इस तरह आया कि उनकी गहरी मानवीय सहानुभूति न केवल बनी रही बल्कि उन्होंने यह भी समझ लिया कि आज के समाज मे लोग दयनीय, लाचार और असहाय किसके द्वारा और क्यों बनाए जाते हैं और जब उन्होंने यह समझ लिया तो उनकी करुणा और सहानुभूति तथा ममता एक बहुत गहरी नफरत, बहुत बडे क्रोध मे बदल गई और चूकि रघुवीर सहाय हिंदी के योग्यतम कवियो मे से हैं इसलिए उनमे व्यग्य की मात्रा और नैतिक रूप से फूहड लोगो पर हसने का माद्दा भी आया।

रघुवीर सहाय के इस पहलू पर ध्यान रखना बहुत आवश्यक है क्योंकि आज की अधिकाश प्रतिबद्ध कविता समाज को बदल डालने के अपने महान् उत्तरदायित्व के बोझ से इतनी आक्रात है कि उसे उन लोगो पर न तो स्नेह रह गया है और न गुस्सा जिनके लिए वह फूत्कार करती सुनाई देती है। उसके पास वह बुद्धि और वह दृष्टि नही है जो आस-पास हो रहे सब कुछ को समझती और देखती है और एक सचमुच तगडी कविता की रचना करती है। आज की अधिकाश कविता मे परिवार, मित्र, औरत, घर-गिरस्ती, मामूली जीवन को सपूर्ण बनाने वाले लोगबाग आदि भयावह ढग से अनुपस्थित है और एक सदर्भहीन जमात असह्य कविताए लिख रही है जिन्हें लेकर 'आलोचको' की एक हास्यास्पद अक्षौहिणी सिर धुन रही है। बहुरूपियो की इतनी बडी भीड कभी-भी एक साथ कवियो तथा आलोचको के रूप मे सामने आती नही देखी गई। रघुवीर सहाय की कविता रूढार्थ मे प्रतिबद्ध कविता नही है किंतु जिन स्रोतो से उनकी कविता फूटती है वे इतने वास्तविक, असली और गहरे है कि उसे सायास प्रतिबद्ध बनने की कोई आवश्यकता ही नही है, उल्टे वह तथाकथित प्रतिबद्ध कविता के व्याख्याकारो को बाध्य करती है कि वे अपने औजारो को बदलें और बौद्धिक क्षितिज को विस्तृत करें या फिर उसके प्रति एक जघन्य चुप्पी साध लें या अपने जाहिल तर्कजाल से उसे प्रतिक्रियावादी वगैरह घोषित करें। लेकिन साहित्य में शायद एकमात्र नियम यह है कि खराब कविता एक क्षणभगुर स्वर्णयुग के बाद शाश्वत अधकार मे विलीन हो

जाती है और अपने साथ अपने व्याख्याकारों को भी वही नियति प्रदान करती है जबकि सही कविता (कभी-कभी कुछ अरसे तक उपेक्षित रहने के बाद) हर समय एक नया अर्थ लिए हुए प्रासंगिक बनी रहती है और वह हमेशा प्रतिबद्ध होती है या उसमें वह गुण होता है जिसकी तलाश में आदमी प्रतिबद्ध होना है।

मानवीय सहानुभूति के रास्ते से होते हुए जब रघुवीर सहाय की कविताओं ने समसामयिक समाज की भयावहता को, उसके पाखंड, षड्यंत्र, निर्दयता बेशर्मी, फूहड़पन और नृशंसता को पहचाना, उसे अपना एक बड़ा विषय बनाया तो भाषा, शिल्प आदि पर नियंत्रण रखते हुए भी बहुत-सारा लिख गए—'आत्महत्या के विरुद्ध' में राजनीति और व्यवस्था पर प्रहार करने वाली उनकी कविताएं 'हंसो हंसो जल्दी हंसो' की ऐसी कविताओं के अनुपात में ज्यादा है और शायद ज्यादा बड़ी भी हैं। किंतु १९६० के बाद के भारत को यदि हम याद करें तो कदाचित् ऐसा नहीं लगेगा कि वे बहुत ज्यादा थीं या बहुत ज्यादा कहती थीं। आज हमें १९६७ की ये कविताएं 'ओवरकिल' दोष से ग्रस्त लगें यह नितांत अस्वाभाविक नहीं किंतु रघुवीर सहाय को उस समय मालूम था (प्रत्येक सही कवि को मालूम रहता है) कि उन्होंने समसामयिक सचाई को कहने का एक नया तरीका पाया था और यह उत्साह और आत्म-विश्वास उन्हें कुछ ज्यादा बहा ले गया हो। बहरहाल, 'हंसो हंसो जल्दी हंसो' की कविताओं में रघुवीर सहाय ने अपना काव्य-क्षेत्र नहीं बदला है किंतु अभिव्यक्ति पर एक कलात्मक नियंत्रण अवश्य लगाया है। 'आत्महत्या के विरुद्ध' की तुलना में इस संग्रह में पूरी बारह कविताएं ज्यादा हैं किंतु तंत्र और व्यवस्था से जूझने वाली कविताएं—शब्दों और अभिधा तथा कौशल का ज्यादा इस्तेमाल मानने वाली— रचनाएं अपेक्षाकृत कम हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि १९७५ के प्रारंभ तक (जब यह संग्रह प्रकाशित हुआ) भारतीय जनता जिस संकट में थी उसमें कोई फर्क पड़ा था, सिर्फ यही कि रघुवीर सहाय का जागरूक कवि समझ रहा था कि बाहरी यथास्थिति उसकी अपनी रचनात्मक यथास्थिति न बन जाए।

अभिव्यक्ति पर इस कलात्मक नियंत्रण के परिणाम 'हंसो हंसो जल्दी हंसो' की कविताओं को जरा भी कम पैनी नहीं बनाते। उनका निर्मम व्यंग्य, उनकी पैनी निगाह कहीं भी कुंद नहीं पड़ते। बल्कि 'आज का पाठ है', 'रामदास', 'अधिकार हमारा है, हिंदू पुलिस' आदि कविताएं 'आत्महत्या के विरुद्ध' की अधिकांश सशक्त कविताओं से ज्यादा ताकतवर हैं—अपनी साफगोई और सीधे चोट करने के गुण में। नियंत्रण हुआ है शब्दों के खर्च में और इसलिए शिल्प में भी हुआ ही होगा। 'आत्महत्या के विरुद्ध' की उन कविताओं में से ८ कविताएं दो पृष्ठों से अधिक लंबी हैं जबकि 'हंसो, हंसो जल्दी हंसो' की ५१ कविताओं

मे से केवल ४। एक पृष्ठ की कविताए पहले सग्रह मे २६ हैं और दूसरे मे ३५। स्पष्ट है कि कवि अभिव्यक्ति-प्रसार को समेट रहा है और शब्दो को ज्यादा सपृक्त बना रहा है।

कुछ कवि और कुछ कविताए इतने असली होते है कि किसी भी ऐसे समीक्षक के लिए, जो बेशर्मी से समसामयिक रूढिया नही दुहरा रहा है, बहुत बडी कठिनाई हो जाते हैं। रघुवीर सहाय की कविता मे कुछ ही समय पहले के भारत की इतनी सच कविताए है कि उन्हे 'प्रतिबद्ध', 'क्रुद्ध', 'आम आदमी का पक्षधर', 'जनवादी' आदि कहा जा सकता है। उनकी कुछ कविताए आपके हृदय के व्यक्तिगत कोने पर इतना गहरा प्रभाव डालती है—'दोहराते दो मुझको अपनी बच्ची पर बाप का दुलार/वह जो अगली शताब्दी मे विचित्र कोई मौत पाने को है' या पूरी-की-पूरी 'बडी हो रही है लडकी' और विशेषत. उसकी यह भयावह और करुण पक्तिया

एक पालना होगा
वह उसे देखेगी और अपने बचपन की यादें आयेंगी
अपने बच्चे के भविष्य की इच्छा
उन दिनो कोई नही करता होगा
वह भी न करेगी

कि उन्हे 'मार्मिक कविताओ का रचयिता' कहा जा सकता है या अलग-अलग स्थितियो मे देखी गई अलग-अलग स्त्रियों पर उनकी कविताओ से उन्हे 'मध्यवर्गीय नारी का चितेरा' घोषित किया जा सकता है। यह और ऐसे सब विशेषण रघुवीर सहाय के लिए उपयुक्त है किंतु कभी कभी ऐसा लगता है कि ऐसे लेबल चिपकाकर हम कवि को, कविता को तथा स्वय को सस्ता और फूहड बना देते है। कवि के लिए कवि-कर्म ही—किसी चीज की अभिव्यक्ति मागना और कवि का उसे वह दे देना ही— शायद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता होगा और यदि उसे आलोचक यह बताए कि अमुक कविता मे वह यह कर रहा था या करना चाहता था तो वह सासत मे पडकर या गलत समझ लिए जाने के कारण (जिसकी सभावना बहुत प्रबल है) चुप हो जायेगा। रघुवीर सहाय के कवि के बारे मे बचकाना हुए बिना यही कहा जा सकता है कि वे ससद से सडक तक के ही कवि नही, वहा से घर-गिरस्ती, बाल-बच्चो, पास-पडोस के 'सिनेमा वेरिते' के कवि है और वे भावनाए जो वे अनुभव करते हैं और जगाते है उनका वैविध्य भी असामान्य है। आम आदमी को लेकर हिंदी के मूर्खों का एक महामडल बहुत शोर मचा रहा है किंतु उस कोलाहल से ऊपर रघुवीर सहाय की ये एकदम सादा पक्तिया बहरा कर देने वाली हालत तक तुमुल

हैं :

मैंने कहा डपट कर
ये सेब दागी है
नही नही साहब जी
उसने कहा होता
आप निश्चित रहे
तभी उसे खासी का दौरा पड गया
उसका सीना थामे खासी यही कहने लगी ।

हिंदुस्तान की जिंदगी मे द्रवित और व्याकुल होने की सामग्री हमेशा से प्रचुर रही है और उसका प्रयोग हिंदी के साहित्यकारो ने, कवियो ने अपने-अपने ढग से खूब किया है । ऐसा आम तौर पर कहा और माना जाता है कि पूर्व के लोग भावुक होते ही हैं । भावुकता हिंदी कविता मे बिखरी पडी है और अनेक कवियो ने पाठको को अनेक चीजो पर तरस खाने के लिए आमत्रित किया है। रघुवीर सहाय की विचलित करने वाली कविताए 'टियर जर्कर' नही है क्योंकि उनके पीछे सबसे पहले तो एक ईमानदार तथा गहरा, स्वय अपना अनुभव है और उसके बाद एक सजग कवि का सयम, शली, शब्द-चयन आदि भी है, जिससे होता यह है कि वह अनुभव, जो भावुक हो भी सकता था, पाठक को एकदम 'कच्चा' या 'टटका' नही दे दिया जाता, उसे एक 'सपूर्ण' आकार भी नही दिया जाता बल्कि उसके पहले और उसके बाद बहुत-सा यू ही छोड दिया जाता है कि अब आप चाहें तो खुद उसे पूरा करें ।

रघुवीर सहाय की कविताए असदिग्ध रूप से प्रतिबद्ध कविताए हैं और ऐसी वे इसीलिए हैं कि मूलत वे आदमी से प्रतिबद्ध है यह आकस्मिक नही है कि उनकी कविताओ मे लोग, लोग, मार तमाम लोग भरे पडे है—अलग-अलग भी और एक साथ भी। सच कहा जाए तो नागार्जुन को छोडकर हिंदी के किसी और कवि मे विराट् भारतीय जनता की ऐसी शुद्ध शारीरिक—इतनी कि आप उसे सिर्फ देख ही नही, लगभग छू और सूध भी सकें—उपस्थिति नही है । यह ठीक है कि कुछ कवियों के यहा परिवार और गाव और कस्बा मिल जाएगा और कुछ के यहा महानगर भी, लेकिन लगभग समूची भारतीय जनता की तस्वीर—यानी वे लोग जो दुर्घटना से लेकर जनसभा तक आनन-फानन मे जमा हो जाने को तैयार बैठे या खडे रहते हैं—शायद रघुवीर सहाय और नागार्जुन के पास ही हैं । लेकिन लोगो या जनता या भीड का कवि होना सुविधाजनक भी है—आप आजीवन मजे से जनकवि बने रह सकते हैं—और इसी खतरे को पहचानते हुए रघुवीर सहाय 'रामदास', 'भैंकू', 'गिरीश', 'देवी

मे से केवल ४। एक पृष्ठ की कविताए पहले सग्रह मे २६ हैं और दूसरे मे ३५। स्पष्ट है कि कवि अभिव्यक्ति-प्रसार को समेट रहा है और शब्दो को ज्यादा सपृक्त बना रहा है।

कुछ कवि और कुछ कविताए इतने असली होते है कि किसी भी ऐसे समीक्षक के लिए, जो बेशर्मी से समसामयिक रूढिया नही दुहरा रहा है, बहुत बडी कठिनाई हो जाते हैं। रघुवीर सहाय की कविता मे कुछ ही समय पहले के भारत की इतनी सच कविताए हैं कि उन्हे 'प्रतिबद्ध', 'क्रुद्ध', 'आम आदमी का पक्षधर', 'जनवादी' आदि कहा जा सकता है। उनकी कुछ कविताए आपके हृदय के व्यक्तिगत कोने पर इतना गहरा प्रभाव डालती हैं— दोहराने दो मुझको अपनी बच्ची पर बाप का दुलार/वह जो अगली शताब्दी मे विचित्र कोई मौत पाने को है' या पूरी-की-पूरी 'बडी हो रही है लडकी' और विशेषत उसकी यह भयावह और करुण पक्तिया

एक पालना होगा
वह उसे देखेगी और अपने बचपन की यादें आयेंगी
अपने बच्चे के भविष्य की इच्छा
उन दिनो कोई नही करता होगा
वह भी न करेगी

कि उन्हे 'मार्मिक कविताओ का रचयिता' कहा जा सकता है या अलग-अलग स्थितियो मे देखी गई अलग-अलग स्त्रियो पर उनकी कविताओ से उन्हे 'मध्यवर्गीय नारी का चितेरा' घोषित किया जा सकता है। यह और ऐसे सब विशेषण रघुवीर सहाय के लिए उपयुक्त है किंतु कभी-कभी ऐसा लगता है कि ऐसे लेबल चिपकाकर हम कवि को, कविता को तथा स्वय को सस्ता और फूहड बना देते है। कवि के लिए कवि-कर्म ही—किसी चीज की अभिव्यक्ति मागना और कवि का उसे वह दे देना ही— शायद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता होगा और यदि उसे आलोचक यह बताए कि अमुक कविता मे वह यह कर रहा था या करना चाहता था तो वह सासत मे पडकर या गलत समझ लिए जाने के कारण (जिसकी सभावना बहुत प्रबल है) चुप हो जायेगा। रघुवीर सहाय के कवि के बारे मे बचकाना हुए बिना यही कहा जा सकता है कि वे ससद से सडक तक के ही कवि नही, वहा से घर गिरस्ती, बाल-बच्चो, पास-पडोस के 'सिनेमा वेरिते' के कवि है और वे भावनाए जो वे अनुभव करते हैं और जगाते है उनका वैविध्य भी असामान्य है। आम आदमी को लेकर हिंदी के मूर्खों का एक महामडल बहुत शोर मचा रहा है किंतु उस कोलाहल से ऊपर रघुवीर सहाय की ये एकदम सादा पक्तिया बहरा कर देने वाली हालत तक तुमुल

है :

मैंने कहा डपट कर
ये सेब दागी हैं
नही नही साहब जी
उसने कहा होता
आप निश्चित रहे
तभी उसे खांसी का दौरा पड गया
उसका सीना थामे खासी यही कहने लगी ।

हिंदुस्तान की जिंदगी मे द्रवित और व्याकुल होने की सामग्री हमेशा से प्रचुर रही है और उसका प्रयोग हिंदी के साहित्यकारो ने, कवियो ने अपने-अपने ढग से खूब किया है । ऐसा आम तौर पर कहा और माना जाता है कि पूर्व के लोग भावुक होते ही है । भावुकता हिंदी कविता मे बिखरी पडी है और अनेक कवियो ने पाठको को अनेक चीजों पर तरस खाने के लिए आमंत्रित किया है। रघुवीर सहाय की विचलित करने वाली कविताए 'टियर जर्कर' नही हैं क्योकि उनके पीछे सबसे पहले तो एक ईमानदार तथा गहरा, स्वय अपना अनुभव है और उसके बाद एक सजग कवि का सयम, शली, शब्द-चयन आदि भी है, जिससे होता यह है कि वह अनुभव, जो भावुक हो भी सकता था, पाठक को एकदम 'कच्चा' या 'टटका' नही दे दिया जाता, उसे एक 'सपूर्ण' आकार भी नही दिया जाता बल्कि उसके पहले और उसके बाद बहुत-सा यू ही छोड दिया जाता है कि अब आप चाहे तो खुद उसे पूरा करें ।

रघुवीर सहाय की कविताए असदिग्ध रूप से प्रतिबद्ध कविताए हैं और ऐसी वे इसीलिए हैं कि मूलत वे आदमी से प्रतिबद्ध है यह आकस्मिक नही है कि उनकी कविताओ मे लोग, लोग, मार तमाम लोग भरे पडे है—अलग-अलग भी और एक साथ भी। सच कहा जाए तो नागार्जुन को छोडकर हिंदी के किसी और कवि मे विराट् भारतीय जनता की ऐसी शुद्ध शारीरिक—इतनी कि आप उसे सिर्फ देख ही नही, लगभग छू और सूध भी सकें—उपस्थिति नही है । यह ठीक है कि कुछ कवियो के यहा परिवार और गाव और कस्बा मिल जाएगा और कुछ के यहा महानगर भी, लेकिन लगभग समूची भारतीय जनता की तस्वीर—यानी वे लोग जो दुर्घटना मे लेकर जनसभा तक आनन-फानन मे जमा हो जाने को तैयार बैठे या खडे रहते हैं—शायद रघुवीर सहाय और नागार्जुन के पास ही हैं। लेकिन लोगों या जनता या भीड का कवि होना सुविधाजनक भी है—आप आजीवन मजे से जनकवि बने रह सकते हैं—और इसी खतरे को पहचानते हुए रघुवीर सहाय 'रामदास', 'मेकू', 'गिरीश', 'देवी

दयाल वर्मा' तथा मुसद्दीलाल' आदि के भी कवि हैं। यानी आप यह सकते हैं कि एक ओर तो वे कीटाणु को भी देखते हैं और महामारी को भी और दूसरी ओर उन गधाते लागों को भी, जो भीड बनकर आगे बढते है और जब बदहवास भागते हैं तो सडक पर कुछ गिरे हुए और कुचले हुए इन्सान बच रहते हैं—जनता' के आदर्शों और 'आकाक्षाओं' के अवशेष।

रघुवीर सहाय की कविताओं का ससार इस तरह हमारे आस-पास का ससार है और यह भी मुमकिन है कि वह हमारा देखा और समझा गया ससार न हो या अदात देखा और समझा गया हो, या पूरी तरह देखा-समझा गया हो और हमने चुप लगाना ही ठीक समझा हो। रघुवीर सहाय की कविताए वह अप्रिय और अलोकप्रिय कार्य करती हैं—वे हमेशा एक गरीब रिश्तेदार की तरह ऐन ड्राइग-रूम में उस वक्त चली आती हैं जब आप साहित्य-सगीत-कलाप्रेमी उपमत्री से दस की हालत पर दो-चार हो रहे होते हैं। रघुवीर सहाय की कविता उन्ही की पीढी के दो अन्य महत्त्वपूर्ण कवियों—श्रीकात वर्मा और केदारनाथ सिंह—की कविताओं से भिन्न है—श्रीकात वर्मा की कविताओं से एकदम अलग और केदारनाथ सिंह की कविताओं से अंशत अलग। श्रीकात वर्मा और केदारनाथ सिंह दोनों में एक लिरिकल' वक्फे के बाद बौद्धिकता आई और श्रीकात एक दृष्टि से हिंदी के सर्वाधिक बौद्धिक कवि कहे जा सकते हैं। वे भारतीय आदमी और समाज की हालत' के कवि नही हैं वे मानवीय अस्तित्व के उद्देश्य तथा नियति' के कवि हैं। उन्हें एक दार्शनिक कवि भी कहा जा सकता है या किसी हद तक 'मेटाफिजिकल' भी। केदारनाथ सिंह ने गीतात्मक कविताए लिखी हैं नयी कविता के जमाने की कुछ सर्वश्रेष्ठ कविताए भी और सातवें दशक के अंत तक उनकी कविता भी तीखी और पैनी हो चली थी किंतु केदारनाथ सिंह में एक रिजर्व —एक स्वस्थ रिजर्व'—बना रहा जो उनकी कविता को किसी और की कविता सरीखी बनने से लगातार रोके रखने में सफल रहा। दरअसल रघुवीर सहाय, श्रीकात वर्मा, केदारनाथ सिंह और कुवर नारायण ही अलग-अलग तरीके से हिंदी कविता की उस पीढी की प्रतिनिधि आवाजें है जो इस समय आयु के पचासवें के पास पहुच रही हैं। उनके अलावा कवि हैं अवश्य, किंतु यदि हिंदी कविता के एक दौर को परिभाषित करना हो तो वह इन के बिना नही हो सकता। खैर बात रघुवीर सहाय के काव्य-ससार की हो रही थी। हिंदुस्तानी कस्बे और शहर की दुनिया श्रीकात वर्मा और केदारनाथ सिंह की भी दुनिया है किंतु जहा श्रीकात ने अपनी कविता से सवेदनशीलता, करुणा और मानवीय परवाह को लगभग बिल्कुल बहिष्कृत कर दिया है वहा केदारनाथ सिंह ने उन्हें गीता-त्मकता दी या बाद में कुछ ऐसी बौद्धिक ऐन्द्रियता जो विश्व-कविता में शायद

लातीनी-अमरीकी कवियों के पास ही है। श्रीकांत और केदार दोनों निस्सन्देह रघुवीर सहाय से ज्यादा 'जटिल' कवि हैं—उसी तरह जिस तरह शमशेर और निराला मुक्तिबोध से ज्यादा जटिल हैं। इसका अर्थ यह न समझा जाय कि श्रीकांत और केदार शमशेर और निराला की तरह के कवि हैं या रघुवीर सहाय मुक्तिबोध की तरह के। लेकिन यह भी है कि बुद्धिमान कवि के यहां सरलता भी एक तरह की जटिलता ही होती है। यह ठीक है कि रघुवीर सहाय की कविता 'मैं क्यों पैदा हो गया' या 'क्या मृत्यु के बाद जीवन है' सरीखे प्रश्न न तो पूछती है और न उनका उत्तर देती है, लेकिन उनकी कविता के मूल में मानवीय चिंताएं, करुणा, सहानुभूति आदि हैं जिनकी वजह से उनकी कविताओं में कभी बहुत कोमल प्यार, कभी चालीस की औरत के प्रति जुगुप्सा, कभी तंत्र को लेकर बहुत बड़ा गुस्सा या बहुत बड़ा व्यंग्य या बेकसों पर ताकत-वर की मार को देखते हुए जन-साधारण की आवाज बन जाने की अदम्य अभिलाषा रह-रह कर उभरते रहते हैं—'भारत के कोई कोने में/मर कर बेमौत जनम लेकर/भारत के कोई कोने में/खोजता रहूंगा वह औरत/कानी नारी सुंदर प्यारी/जो होगी मेरी महतारी', मैं होऊं मेरी मां होवे/दोनों में से कोई होवे/अधिकार हमारा है/भारत का भावी प्रधानमंत्री/होने का अधिकार हमारा है।'

अपनी कविता 'दो अर्थ का भय' में रघुवीर सहाय अपने उस 'सब क्रोध सब कारुण्य सब क्रंदन' का जिक्र करते हैं जो 'भाषा में शब्द नहीं दे सकता'—मुझे पता नहीं कि इन शब्दों में विनम्रता है या किन्हीं और शब्दों को भाषा में न दे पाने की मजबूरी, किंतु उनकी कविताओं को पढ़ने के बाद कहीं ऐसा नहीं लगता कि उनका क्रोध, कारुण्य और क्रंदन कभी किन्हीं शब्दों के अभाव में व्यक्त नहीं हो पाया है। उनकी कविताओं में प्रयुक्त शब्दों के दो अर्थ लिए जाने का भय कम है—कुछ लोग चाहें तो यह कह सकते हैं कि वे शब्दों का और भी गहरा और क्रूर इस्तेमाल नहीं कर रहे हैं किंतु रघुवीर सहाय उस तरह के 'क्रांतिकारी' कवि नहीं हैं और न ही वे होना चाहते हैं। उनकी कविता देश, जनता, राजतंत्र, अन्याय, पाखंड, मजबूरी, सौंदर्य, प्रेम, स्त्री, बच्चों आदि को उन्हीं की दुनिया में समझती और देखती है और उस पर बाहर से कोई भी पूर्वग्रह, सिद्धांत या विचारधाराजनित, सुचिंतित, वस्तुपरक विश्लेषण या क्रोध नहीं ओढ़ाती। बहुत हद तक इसीलिए वह अवास्तविक, नकली और 'फैशनेबल' होने से बची हुई है और उबाऊ तथा एकांगी भी नहीं है। एक ओर तो वह कविता की शर्तों को पूरा करती है और दूसरी ओर एक लगभग आदर्श सीमा तक लोगों, व्यवस्था तथा समाज के प्रति उन्मुख (या जागरूक) है। उनका कवि दो-तीन दस्ती बम फेंककर भाग जाने में विश्वास नहीं करता, बल्कि

पिटकर, गिरकर तथा बेउम्मीद पीटे जाने पर भी 'मानिको' में और दूर देखने व्यंजना से बजिद पूछता रहता है कि आखिर वजह क्या है। मामूली और गरीब आदमी का यह भौचक्का सवाल ही शायद क्रांति की शुरुआत है किंतु उसके 'बिलकुल डिस्लोकेशन' के प्रति भी रघुवीर सहाय सजग हैं—'मैं क्या कर रहा था जब मैं मरा/मुझसे ज्यादा तो तुम जानते लगते हो/तुमसे कितना मैंने कहा था स्वाधीनता/शायद मैंने कहा था बताओ/अब मैं मर चुका हूँ/मुझे याद नहीं कि मैंने क्या कहा था'। यह सवाल या आशंका उनकी पीढ़ी के तीसरे बड़े और बिलकुल अलग तरह के कवि कुंवर नारायण के ही पास है।

मुझे एक मनुष्य की तरह पढ़ो

कुंवर नारायण की प्रारंभिक कविताओं से भी शुरू करें तो यह स्पष्ट दिखायी देता है कि व्यक्ति और कवि के रूप में अपना धर्म तथा अपनी नियति, अपने व्यक्ति और कवि के अपने आस-पास से संबंध और अपने एक सोचने-समझने वाली इकाई होने को लेकर उनकी चिंताएं बराबर बनी हुई हैं। कुंवर नारायण की चिंता किसी एक अपरिमापेय 'मैं' तथा उससे भी ज्यादा अपरिमापेय ईश्वर, ब्रह्म, काल या मृत्यु के बीच छद्म आध्यात्मिक रिश्ते की नहीं रही—वे बहुत ठोस मानों में इहलोक के कवि रहे हैं—एक अमूर्त समय अथवा 'नेति-नेति' के साथ उन्होंने कम ही सरोकार रखा है। उन्होंने मुद्राएं ओढ़ने की बजाय मुद्दों से दो-चार होने की हमेशा कोशिश की है और इस प्रक्रिया में अपनी लगातार जिद और एक विशेष तरह की भाषा के कारण लगभग एक 'दार्शनिक', 'बौद्धिक' या 'आदर्शवादी' कवि तक माने गए। आज के जमाने में उन्हें संवेदनशील आदमी के सामने दो ही विकल्प नजर आते हैं—या तो मजबूरन असंख्य लोगों की तरह बेसबब जीना या फिर सुकरात की तरह जहर पीना। अब यह तो बिल्कुल साफ है कि जिसे मालूम है कि विकल्प यही दो हैं—यद्यपि इनसे ज्यादा भी हो सकते हैं और हैं—तो वह बेसबब जीने को तो कभी स्वीकार नहीं कर सकता—भले ही सुकरात की तरह जहर पीना एक नाटकीय, या पराजयवादी या जबरन शहीद बनने वाला विकल्प हो, जिसे शायद स्वीकार ही न किया जाये। जो भी हो, शहादत का पहलू छोड़ भी दें तो सुकरात के प्रतीक से कुंवर नारायण के काव्य-व्यक्तित्व का एक केंद्रीय तत्त्व पहचाना जा सकता है। सुकरात स्वयं कुछ कहता न था किंतु किसी भी दिए गये मुद्दे पर इतने अलग-अलग पहलुओं से प्रश्न पूछता था—और वे प्रश्न मार्मगर्भित तथा प्रतिकूल होते थे—कि उत्तर देने वाला धीरे-धीरे अपने ही

जवाबो मे तरमीम करता हुआ असली जवाब तक पहुच जाता था। दिये गये मुद्दे पर कई पहलुओं से सोचना विश्व की प्रत्येक महान् सभ्यता का सार्थकतम गुण रहा है—महानतम कवि दार्शनिक राजनीतिज्ञ तथा वैज्ञानिक इसी की देन हैं। दुर्भाग्यवश, कई 'रैशनल' तथा द्वन्द्वात्मक विचार-प्रणालियो मे अबौद्धिकता की तानाशाही परीक्षण, बहस तथा मत-वैभिन्य को घोट देने की द्वन्द्वात्मकता-विरोधी प्रवृत्ति भी प्रचड हो उठती है। उससे कला और संस्कृति का ह्रास तो होता ही है, जिसके लिए वह सब कुछ किया जा रहा है उसकी प्रगति धारा को भी वर्षों पीछे मोड दिया जाता है।

हिंदी कविता मे आज जहा सौभाग्यवश ऐसे कवि उपस्थित है, यद्यपि उनकी सख्या बहुत कम है, जो भारतीय तथा विश्व मानवता के सामने खडे हुए सकटो की जटिलता को पहचान रहे हैं और आदमी होने के विविध पहलुओ से परिचित है, वहा तथाकथित कवियो और आलोचको का एक बहुत बडा गिरोह नितात व्यक्तिगत तथा सामयिक लाभालाभो के लिए एक बहुत खराब कविता को कविता कह रहा है और अनजाने ही एक घातक जनविरोधी तथा प्रगति-विरोधी भूमिका निभा रहा है। जनवाद और प्रगतिवाद के नाम पर लूट मार और बदरबाट मची हुई है जिसमे सभी एक-दूसरे के मौसेरे भाई हैं। जिनकी व्यक्तिगत, सामाजिक तथा साहित्यिक जीवन शैली का दूर-दूर का रिश्ता भी सर्वहारा से नही है वे आपस मे मनकूला और गैर-मनकूला मनसब, जागीरें और सूबे बाट रहे हैं। बेशक इस बदमाशी को बदनाव समझकर कुछ निहायत प्रतिबद्ध और ईमानदार लोग भी इन मचों पर दिखायी पडते हैं या भलमनसाहत मे घसीट लिए जाते हैं, लेकिन प्रचड बहुमत विदूषको या पाखडियो का है जो 'अनेकता म एकता' तथा सर्व धर्म समवाय' के नाम पर दरअसल एक दिग्भ्रमित या मौकापरस्त मीडियॉकर' साहित्य को मानदड बना लेने पर आमादा हैं।

भयावह यह है कि तुरत ख्याति या मान्यता-प्राप्ति की लालच मे—क्योकि 'अहोरूप अहोध्वनि' का बाजार जितना गरम अब है उतना कभी नही था—कुछ ऐसे कवि अथवा आलोचक जो सही सोच का सामर्थ्य रखते है वे भी अपने साहस तथा विवेक का इस्तेमाल न करते हुए चालू लोकवाद के जाने-अनजाने शिकार होते जा रहे है। कविता मे क्या हो क्या न हो, कवि क्या कहे, क्या न कहे, कवि कैसे कहे, कैसे न कहे—यह सब तय हो चुका है। रूढ़िया, रीतिया, लीकें निश्चित हो चुकी है।

लेकिन अच्छा कवि मूलत बहुत जिद्दी होता है और कविता लिखते समय अपने विवेक और शक्ति के अलावा किसी और को नही मानता—मानना चाहता भी है तो भी उसका सर्जनात्मक विवेक और ऊर्जा उस पर बाजी मार

ले जाते है। कुवर नारायण हिंदी के उन विरले कवियो मे से है जिन्होने स्वय पर एक निर्मम नियत्रण तथा सयम रखकर, अधिकतर गलत समझे जाने का जोखिम उठाकर भी बाह्य ही नही, आतरिक प्रलोभनो से भी बचकर अपनी कठोरतम शर्तों पर अपनी कविता की रचना की है। कवि-समाज मे आदर तथा लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए कोई कवि अपने साथ छल भी कर सकता है—सर्जनात्मक स्तर पर अपने ही मन मे उठ रहे प्रश्नो और सदेहो तथा अपने विवेक से प्राप्त हो रहे असुविधाजनक उत्तरो से घबराकर कई कवियो ने आसान रास्ते चुने हैं लेकिन 'अपने सामने' मे कुवर नारायण की कविताएं और उनका कवि 'सुविधाप्रेमी' नही हैं। उन्हे जो दिखता है उसमे उनका एकदम या पूरा विश्वास कभी नही होता—आभास मे उनका यकीन नही है। दरअसल कुवर नारायण की कविता, जो आमतौर पर सच समझ लिया जाता है, जो स्वीकृत है, 'जग-जाहिर' है, सर्वमान्य है, उसके विरुद्ध औद्धत्यहीन दृढता से खडी हुई है। उनकी कविताए रूढार्थों के खिलाफ है—'ऐसा प्रचलित है' इतना ही कह देने से वे उसमे विश्वास नही कर लेती। चीजो, व्यक्तियो, घटनाओ, क्रियाओ, विशेषणो, वर्णनो, अवधारणाओ, परिभाषाओ, समीकरणो, समाधानो, सर्वशुद्ध हलो मे कुवर नारायण की कविता अधश्रद्धा नही रखती। लेकिन इसका अर्थ यह नही है कि वह दोषदर्शन, शून्यवाद, सर्वद्रोह और मूल्यहीनता की कविता है। इसका यह मतलब भी नही है कि कुवर नारायण अराजकता, विध्वस, विश्व तथा मानव-सहार मे विश्वास रखते हैं। बात इतनी है कि वे जानते है कि आज के जटिल युग मे किसी भी वस्तु का आसान भाष्य अथवा हल नही है। किंतु उनकी कविता का तेवर इस अहसास का सतही, चालू, उद्दड या रुग्ण उल्था नही है—यदि यह अहसास उथला होता तब उनकी कविता भी वैसी होती। हिंदी कविता मे बौद्धिक तथा सामाजिक अनास्था के कई रूप है जिनमे से एक अकविता का, दूसरा श्रीकात वर्मा-कैलाश वाजपेयी की कविता का, तीसरा आत्म-दया से भरा लघुमानववाद का तथा चौथा जुझारू वामपथ का है और कई कवियो मे ये और अन्य तत्व एक साथ भी पाये जा सकते है। इन चार तरह की कविताओ के अतिवाद से अपने को बचाये रखना और तब भी अपनी कविता सुरक्षित रख पाना कुवर नारायण सरीखे विरले सजग, समर्थ तथा सच्चे कवि के ही बूते की बात थी। यह नही है कि सिर्फ कुवर नारायण जैसी कविता ही इन अतिवादो से बच पाई है—हिंदी मे और भी समर्थ तथा युवा कवि है जिन्होने अपने को इन से बचा रखा है और अपने तरीके से बचा रखा है। कुवर नारायण इस बात मे विशिष्ट हैं कि उनके सशय, दुविधा तथा हिचक मे कोई मुद्रा नही है, उनकी कविता एक दुखद रूप से जागरूक व्यक्ति की कविता है जो चाहकर भी स्वयं

को धोखा नही दे सकता

' जरूरी लगता है जिंदा रखना
उस नैतिक अकेलेपन को
जिसमे बद होकर
प्रार्थना की जाती है
या अपने मे सच कहा जाता है
अपने से भागते रहने के बजाय ।

मैं जानता हू किसी को कानाकान खबर
न होगी
यदि टूट जाने दू उस नाजुक रिश्ते को
जिसने मुझे मेरी ही गवाही से बाध रखा है
और किसी बातूनी मौके का फायदा उठाकर
उस बहस मे लग जाऊ
जिसमे व्यक्ति अपनी सारी जिम्मेदारियो मे छूटकर
अपना वकील बन जाता है ।

(अपने बजाय)

कुवर नारायण की कविता अपनी वकालत की कविता नही है—यह उस दौर मे बड़े जोखिम की चीज है जिसमे हर दूसरा कवि या तो अपनी शूरवीरता या अपने बलिदान का वकील स्वय बना हुआ हो या स्वय सारे घपले करता हुआ दूसरो से 'बताओ तुम किस तरफ हो' पूछता फिर रहा हो । कुवर नारायण की कविताए किसी की नीयत पर शक नही करती और न आत्म-मुग्ध भाव से स्वय को दूसरा से बेहतर या दूसरा का रहनुमा या मसीहा सिद्ध करने की कोशिश करती है—यह आकस्मिक नही है कि उनकी एक कविता, जो दुर्भाग्यवश मुझे उनकी अच्छी कविता नही लगती सलीब पर चढाये गय ईसा के बिम्ब का इस्तेमाल करती है किसी जननायक का नही ।

कुवर नारायण मे एक व्यक्ति के बार-बार गलत समझे जाने, गलत आदमी के धोखे मे पकड लिए जाने गिरफ्तार होने, सजायाफ्ता होने, पीडित किये जाने, बेदखल किये जाने आदि के चित्र कई बार आये है और जो इस युग मे किसी भी झूठ का साथ न देने वाले की नियति है

अपराधी की तरह पकडा जाता रहा बार-बार
अद्भुत कुछ जीने की चोर कोशिश मे
लेकिन हर सजा के बाद वह कुछ और पोढा होता गया,

वही से उगता रहा जहा से तोडा गया।

(समुद्र की मछली)

कोई गश्त लगा रहा है मेरी यादो मे—
मैं पहरे मे हूं।

(विकल्प-2)

मुझे अफसोस है
कि मेरे वहा 'मौजूद होने' के एक बिल्कुल दूसरे मतलब को
कुछ चोरो के शक ने
नाहक मार डाला।

(शक)

उसके दोनो हाथ उसके पीछे बाध दो,
और एक बेहतरीन झूठ उसकी आखो पर,
शायद वह कुछ नही कहेगा।'''
वह छटपटायेगा
लेकिन छटपटाना कोई तर्क नही।
वह मर गया है, और अब उसमे और तुममे कोई फर्क नही।

(विश्वासघात)

वे सब मिलकर
मेरी बहस की हत्या कर डालते हैं
जरूरतो के नाम पर
और पूछते हैं कि जिंदगी क्या है
जिंदगी को बदनाम कर।

(जरूरतों के नाम पर)

कही यह भी कोई जुर्म न हो
बहुतो के मामले मे
बहुतो से अलग राय रखना!

(आसन्न संकट में)

झूठ या सच से नही
इस तरह यकीन रखने वालो के बहुमत से
डरता हूं
आज भी!

(आज भी)

आज के ऐसे आदमी की, जो अपना सोच खुद सोचना चाहता हो और अपने को धोखे में न रखना चाहता हो, भयावह स्थिति का आकलन ऊपर उद्धृत पंक्तियों में तो है ही, दो पूरी कविताओं—'विकल्प-1' तथा 'अब वो नहीं रहे'—में अपनी पूरी निर्मम तीव्रता में है। इन दोनों को समांतर रखकर पढ़ा जा सकता है—एक में जबकि अनंत कैद है तो दूसरी में अनंत बेदखली है—या तो कंसट्रेशन कैंप है या निर्वासन है। और यह उस समय है जबकि आप अपराधी नहीं है, जबकि आप कई बार हिसाब चुकता कर चुके हैं, कई बार आपको मुक्त किया जा चुका है, फिर भी निगरानी में है, और एक घर की ओर भाग रहे हैं जबकि फिर उसी घर के सामने किसी बेरहम कार्रवाई की सरगर्मी है और वे फिर आने वाले हैं। कुंवर नारायण की यह और ऐसी कविताएं कोई अस्तित्ववादी या काफ्का-काम्यूनुमा छद्म नहीं है, वे दरअसल एक धर्मीला चीत्कार है जो चीजों को देख-समझ पाने वाले बीसवीं सदी के मस्तिष्क में लगातार गूंजता रहता है। हां, सौभाग्यशाली हैं वे जिन्होंने 'जीवन' के सारे 'सत्यों' को समझ लिया है—उन्हें ऐसी कोई असुविधा नहीं होती, स्वर्ग का राज्य उन्हीं का है।

मनुष्य को 'रैशनल', 'सोशल' 'एनिमल' अवश्य कहा जाता है लेकिन समाज में 'रैशनल' और 'सोशल' एक साथ हो पाना कम-से कम निर्ममता की हद तक ईमानदार तथा संवेदनशील व्यक्ति के लिए संभव नहीं है। यह एक त्रासद सत्य है कि बेहद समता वाले समाजों में भी कवि और कलाकार पूर्णतः सामाजिक प्राणी नहीं बन पाते—जो कवि-कलाकार समाज की शर्तों पर नहीं जीते उन्हें नैतिकता, कानून, पार्टी कार्यकर्ता तथा व्यवस्था, यहां तक कि उनके कतिपय सहधर्मी भी, हमेशा एक संदिग्ध, साजिशी व्यक्ति समझते हैं

नजदीक आओ और नजदीक

मैं तुम्हारा
या किसी का
बुरा नहीं चाहता।
तुम क्यों मुझे घेरते हो
अपने शकों से ?

मुझे एक मनुष्य की तरह पढ़ो देखो और समझो
ताकि हमारे बीच एक सहज और खुला रिश्ता बन सके
मात और जोखिम का रिश्ता नहीं।

(विकल्प-2)

—उसकी रोजमर्रा कोशिश (के बावजूद)

कि वह कैसे जिंदा रहे उन तमाम लड़ाइयों के बीच
जो उसकी नहीं—जो उसके लिए भी नहीं—जिनमे
वह न योद्धा कहलाये, न कायर,
केवल अपना फर्ज अदा करता चला जाय
ईमानदारी से और फिर अपने ही घर की
दीवारो मे वह जिंदा न चुनवा दिया जाय ।

(वह कभी नहीं सोया)

आज की दुनिया मे जीने की भयावहता और सासत को जानते हुए भी कुंवर नारायण ने अपनी 'सेंस ऑफ ह्यूमर' तथा विसगति-विरोधाभास देख पाने की ताकत गवाई नहीं है, बल्कि इन्ही मबलो के कारण वे इस दुनिया को ज्यादा समझ तथा झेल पाये है

मैंने अक्सर इस ऊलजलूल दुनिया को
दस सिरो से सोचने और बीस हाथो स पाने की
कोशिश मे
अपने लिए बेहद मुश्किल बना लिया है ।

× ×

जब तुम अपने मस्तक पर बर्फ का पहला तूफान
झेलोगे और कापोगे नही—
तब तुम पाओगे कि फर्क नही
सब कुछ जीत लेने मे
और अत तक हिम्मत न हारने म ।

(अतिम ऊचाई)

मैं अस्पताल गया।
लेकिन वह जगह अस्पताल नही थी
वहा मैं डाक्टर से मिला
लेकिन वह आदमी डाक्टर नही था ।

× ×

डाक्टर ने मेज पर से
आपरेशन का चाकू उठाया
मगर वह चाकू नही
जग लगा भयानक छुरा था ।
छुरे को बच्चे के पेट मे भोकते हुए उसने कहा

अब यह बिल्कुल ठीक हो जाएगा ।

(इंतिजाम)

· ·क्यों खोजना पड़ता है
मिथकों में, वक्रोक्तियों में, श्लेषों में, रूपकों में
झूठ के उलटी तरफ क्यों इतना रास्ता चलना पड़ता है
एक साधारण सचाई तक भी पहुंच पाने के लिए ?

(आदमी अध्यवसायी था)

मेरी बायीं तरफ
क्या मेरा बायां हाथ है ?
मेरा दाहिना हाथ
क्या मेरे ही साथ है ?
या मेरे हाथों में बल्लों से
मेरे ही सिर को
गेंद की तरह खेला जा रहा है ?
मैं जो कुछ भी कर पा रहा हूं
वह विष्टा है या विचार ?

(सन्नाटा या शोर)

वर्तमान विचारशील आदमी का संकट दरअसल ईमानदारी, विवेक, समझौता-विरोध, आत्म-प्रवंचना से शत्रुता, अप्रिय सत्य के स्वीकार, विरोधाभासों-विसंगतियों-द्वंद्वात्मकता के एहसास तथा दूसरों और दूसरों से ज्यादा कहीं अपने पर हंस लेने की ताकत से उपजा संकट है। इसके साथ-साथ इतिहास तथा संस्कृति से धोखा न खाने का माद्दा भी जुड़ा हुआ है। जिसे मानवता के इतिहास का एहसास नहीं है उसे मानवता के वर्तमान और भावी संकटों का एहसास भी नहीं हो सकता। यह आकस्मिक नहीं है कि कुंवर नारायण की कविताओं का लगभग एक-तिहाई हिस्सा इतिहास से सम्बद्ध कविताओं का है। कवि या रचनाकार इतिहास में अनेक उद्देश्यों और अनेक रूपों में जाता है। घटिया रचनाकार इतिहास को गरिमामंडित या मोहक बनाने जाता है, वह उसकी कल्पित भव्यता से रोमांचित होता है और किसी तथाकथित स्वर्णयुग को पुनरुज्जीवित करता है। दूसरे किस्म का रचनाकार इतिहास को प्रासंगिक बनाने के लिए उसे इस्तेमाल करता है—उसकी जो विचारधारा हो उसमें खोजने की कोशिश करता है या उसे उस पर आरोपित करता है। किंतु रचनाकार कभी-कभी व्यक्तिगत रूप से भी इतिहास को बहुत शिद्दत से महसूस करता है और उसमें स्वयं अपनी उपस्थिति महसूस करता है। इसके पीछे

समय को एक लगातार धारा के रूप में देखने का मज़ा होता है और इतिहास को एक लगातार अपने को दुहराते जाते पैटर्न के रूप में—इतिहास को इसमें एक ऐसी 'टाइम-मशीन' के रूप में देखा जाता है जिसमें आप प्रविष्ट होकर व्यतीत में पहुंच सकते हैं या जिसके माध्यम से आप नया रूप धारण कर सकते हैं। इस तरह कवि इतिहास में अपने कई जन्म और मृत्यु, अवतरण और अवरोहण, जय और पराजय देखता है—वह प्रगति होते हुए भी देखता है किंतु मानव-व्यापारों को कतिपय महान् प्रसंगों और बार-बार लौटने वाले पैटर्नों में भी देखता है—भौतिक प्रगति के भ्रम और आध्यात्मिक विकास की सांप-सीढ़ी के रूप में देखता है जहां सौ घर भी एक सांप बैठा हुआ है। इतिहास में इस पदार्पण को वह गरिमामय भी बना सकता है त्रासद भी और त्रासत-भरा भी। भारत जैसे देश में, जिसके पास एक बहुत बड़ा सांस्कृतिक व्यतीत है, आमतौर पर रचनाकार इतिहास की राष्ट्रवादी, हिंदुत्ववादी या आर्यवादी व्याख्या के शिकार हुए हैं—अक्सर रामायण महाभारत तथा पुराणों की कथाओं के रूमानी या हास्यास्पद संस्करण हुए हैं। 'सारे जहां से अच्छा हिंदोस्तां हमारा' छाप उपन्यासों, महाकाव्यों, नाटकों, खंड-काव्यों तथा कविताओं से हिंदी साहित्य के घूरे में पर्याप्त अभिवृद्धि हुई है। उसके बाद 'आधुनिकता' के दबाव के तहत अश्वत्थामा, अभिमन्यु वगैरह भी सुनाये गये लेकिन भारतीय इतिहास से स्वयं को कविता में एकात्म करने में अग्रणी रहे श्रीकांत वर्मा जिन्होंने अपनी इतिहास-कविताओं में हमेशा एक अभिजात उपस्थिति की मुद्रा बनाये रखी—उनकी इतिहास-कविताओं में कवि का 'पर्सोना' अशोक, चंद्रगुप्त, लिच्छवि, कलिंग, बाबर, हुमायूं, समरकंद युद्ध पराजय में नीचे सोचता ही नहीं। इतिहास की व्याख्या इन कविताओं में जैसी भी होती हो—श्रीकांत वर्मा के तेवर हमेशा भारतीय, मध्यपूर्वीय अथवा यूरोपीय चक्रवर्तियों के होते हैं। उनकी कविताओं में इतिहास 'व्हाइट मैन्स बर्डन' है, नायकवादी, सामंतवादी, तथा 'डिवाइन राइट ऑफ किंगशिप' वाला है—'अनईज़ी लाइज़ द हेड दैट वेअर्स द क्राउन' वाली मनोवृत्ति या है। इतिहास के परलोक में घुसकर उनका कवि वह प्राप्त करने की कोशिश करता है जो उसे इहलोक में प्राप्त नहीं हुआ। उसके पीछे एक प्रजावत्सल भावना यह भी रहती है कि अच्छा हुआ तुम लोग अशोक, बाबर या लिच्छवि नहीं हुए, देखो हमें कितनी मर्मांतक शारीरिक तथा आध्यात्मिक व्याधियां उठानी पड़ीं, तुम सामान्यजन रहकर ही सुखी हो इसके बिल्कुल विपरीत कुंवर नारायण की इतिहास-कविताएं किसी भी गरिमा, औदात्य, सांस्कृतिक रूमान, जलाल या प्रभामंडल का इस्तेमाल नहीं करतीं। 'अपने सामने' में करीब एक-तिहाई कविताएं इतिहास से या तो सीधे-सीधे संबंधित हैं या किसी इतिहास-संदर्भ को हैं—दरअसल उन्हें इतिहास-

कविताएं कहना उतना सही नही है जितना **समय-कविताएं** कहना, क
इतिहास 'डॉक्युमेंटेड' समय से अधिक कुछ नही है, और वह भी सम
सारे आयामो को नही छूता । शायद 'कोणार्क' और 'अनात्मा देह (फते
सीकरी)' मे ही उनमे ऐतिहासिक स्थलो का पर्यटकी वर्णन-सा मिलता
हालांकि 'अनात्मा देह' मे वह उत्साह कुछ कम है—उसकी प्रारंभिक प
ही एक रहस्य, समय मे वापस होने का एहसास, लिये हुए है :

इन परछाइयो के अलावा भी कोई साथ है।/
सीढियो पर चढते हुए लगता है/कि वहा कोई है,
जहा पहुचूगा''
' हरी काई के कालीन पर एक अनात्मा देह लेटी है'''

समय या इतिहास मे लौटना एक सैद्धातिक संभावना तो है ही
समर्थ रचनाकारो के हाथो मे यह एक सशक्त हथियार रहा है। 'ए कनैक्टि
यैन्की इन किंग आर्थर्स कोर्ट", 'द टाइम मशीन' और उसके बाद सैकडो अ
बुरे 'साइंस-फिक्शन' लेखको ने काल-यात्रा को एक 'क्लिशे' बना दिया
लेकिन पिछले दिनो एक भयावह विज्ञान-कथा पढी थी जिसमे एक आ
नियतिवश एक ऐसी समय-कैद मे पड जाता है जिससे वह मुक्त तो होत
लेकिन फिर ठीक पिछली ही तरह फस जाता है। कुवर नारायण के
समय या इतिहास मे कैद हो जाने का या वापसी के उपक्रम का 'मो
अनेक बार आया है

कभी-कभी लगता है अपने ही किसी दु स्वप्न मे कैद हू/आज से हज
साल पहले ।

(विक्र

जैसे इन जगहो मे पहले भी आया हू ।

(पहले भी आया

कई बार पहले भी/शुरू की जा चुकी है/हमारी कहानी ।

(मस्तकविहीन बुद्ध प्रति

जिधर घुडसवारो का रुख हो/उसी ओर घिसटकर जाते हुए/मैने उसे
बार पहले भी देखा है ।

(दिल्ली की तर

मेरे हाथो मे एक दूरबीन है/मीनार/जिसके एक तरफ से मैं/इतिहा
तमाम सितारो को देख रहा हू—

(कुतुब मीना

कोई नही । कुछ नही । यह सब/एक गंदा स्त्राव है/यह सब आज का नही/आज से बहुत पहले का इतिहास है ।

(इब्नेबतूता)

हजारों साल से उसी एक पिटते हुए आदमी को/उसी एक पिटे हुए सवाल की तरह/उसी से पूछा जा रहा है/"तुम कौन हो ?/कहा रहते हो ?/तुम्हारा नाम क्या है ?"

(फौजी तैयारी)

उन्होने/फिर एक बार हमे जीत लिया है'''वे सबके सब/वापस आ गये है ।

(बर्बरों का आगमन)

वही शायद फिर आ गया है लौटकर/मेरे दरवाजे पर मुझे पुकार-पुकार कर जगाता हुआ/गुलामो और सुल्तानो का जमाना ।

(आज का जमाना)

आज भी वे/अनेक साम्राज्यो और बियाबानो से होते हुए/भागे चले जा रहे है ।

(भागते हुए)

समय या इतिहास की अपनी यात्रा मे कुवर नारायण आमतौर पर या तो सामान्यजन है या सडक पर खडा हुआ एक सामान्य दर्शक । सिर्फ दो कविताओ मे वे सामान्यजन से कुछ ऊपर उठे हैं । 'उस टीले तक' मे वे एक अभियान-दल के सदस्य हैं और 'इब्नेबतूता' मे इब्नेबतूता—लेकिन इन दोनों मे भी वे विशिष्ट नही हो पाये है—विशिष्ट सवेदना-सपन्न आम आदमी ही है । दर-असल अपनी इतिहास-कविताओ मे कुवर नारायण सदियो से पिस रही रैयत है या अपना आत्म सम्मान बचाये हुए, चुपचाप किसी भी साजिश मे शरीक होने से इन्कार करते हुए एक **आउटसाइडर** । कुवर नारायण के यहा इतिहास निरकुशता, अत्याचार, मदाधता, हत्या, षड्यन्त्र, आक्रमण, आगजनी, मानव-मूल्यों का तिरस्कार तथा सहार का एक अनत सिलसिला है जिसमे मरीचि-काए और इद्रजाल हैं, सामान्यजन के लिए या तो जयजयकार है या अत्या-चार है या मौन असहमति है। वहा हर तथाकथित मुक्ति एक नयी पराधीनता मे पतित हो जाती है । कुछ हद तक यह इतिहास का नकारात्मक तथा नैराश्यपूर्ण पठन है लेकिन इतिहास का एक निर्मम सबक ऐसा भी है जिससे इतिहास के साथ साजिश करने वाले ही इन्कार कर सकते है । इतिहास के प्रति यह रवैया मानव-विरोधी नही है बल्कि बहुत दर्दनाक ढग से मानव-समर्थक है—इतना कि कवि सामान्यजन को किसी भी यूटोपिया या रामराज्य की अफीम नही

खिलाना चाहता—पुराने चिरागों के बदले कुंवर नारायण कोई नये चिराग नहीं देते—वे चिराग तले अंधेरों की ओर इंगित करते हैं।

इतिहास के प्रति यह रस दरअसल कुंवर नारायण में उसी रुझान से उपजा है—वे वाक्य को प्रमाण मानने से इन्कार करते हैं और यह इन्कार पूर्वग्रहयुक्त उद्दंडता नहीं है बल्कि इतिहास के एक सही और तकलीफदेह पठन से पैदा हुआ है। इतिहास के तमाम छलों और प्रपंचों से वे वाकिफ हैं, इतिहास के भरतों-चरणों से भी, इसलिए वह उनके लिए 'दि वंडर दैट वाज इंडिया' नुमा कोई चीज नहीं है। कुंवर नारायण के यहां इतिहास सिर्फ भारत तक ही सीमित नहीं है या किसी युग विशेष तक—उनकी निगाह पूरी मानव-सभ्यता के 'विकास' को लेकर चलती है इसलिए उसमें एक विश्व-दृष्टि है जो इतिहास से सरोकार रखने वाले अधिकांश भारतीय रचनाकारों में दिखायी नहीं देती। इसके साथ हर्ष की बात यह है कि वे अपने इतिहास-ज्ञान को गंडे-तावीज या आभूषण की तरह नहीं पहनते और न ही वह 'एक्सपोर्ट-ओरियंटेड' है। इतिहास उनके लिए इस्तेमाल की नहीं, अनुभव की चीज रही है—इतिहास की चपेट में आये हुए आदमी की चीख उनकी कविताओं में हमेशा कहीं-न-कहीं नेपथ्य में रही है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह लगती है कि इन तमाम कविताओं में एक द्वन्द्वात्मकता देखी जा सकती है—इनमें अत्याचारी और पीड़ित साफ-साफ पहचाने गये हैं, अत्याचारी को भी पीड़ित बताकर रिहा नहीं किया गया है। कुंवर की इन कविताओं को गलत समझना असंभव है—उनकी सहानुभूति असंदिग्ध रूप से इतिहास के तमाम पीड़ितों और शोषितों के साथ है। कुंवर नारायण इतिहास के धीरोदात्त विजयी या पराजित नायकों में न हैं और न उनके साथ है—वे उस सामान्यजन के साथ हैं जो हमेशा ही पिसता है। वे इस तरह के भयावह इतिहास से मुक्त होने के लिए संगठित होने का आह्वान तो नहीं करते लेकिन क्या इतना संकेत अपर्याप्त है कि 'उसके ऊंचे उठे सिर पर एक बोझ रखा है/कांटों के मुकुट की तरह/बस इतने से ही पहचानता हूं/आज भी/उस मनुष्य की जीत को **(ऊंचा उठा सिर)** तथा 'जेतवन की परिव्राजक हवाओं में/आह, उन अनुपस्थितियों का स्पर्श,/जिनके बाद भी अस्तित्व में कुछ अर्थ बाकी हैं' **(श्रावस्ती)** जैसी पंक्तियों का कवि पश्चिम (यदि उसे पश्चिम कहा जा सकता है तो) में ईसा और पूर्व में बुद्ध को और उनके किसी सामंजस्य को इस तरह के इतिहास से मुक्ति का एक निकाय मानता है।

इतिहासपरक ये कविताएं दो तरह की हैं, एक में कवि वर्तमान में खड़ा रहकर अतीत के किसी घटना-बिंदु को देखता है जैसे 'पहले भी यहां आया हूं', 'श्रावस्ती', 'मस्तकविहीन बुद्ध प्रतिमा', 'कोणार्क', 'रास्ते' और 'अनात्मा देह' में, लेकिन १९७० के पहले लिखी गयी इन कविताओं के बाद लिखी गयी

रचनाओ मे जैसे वर्तमान के कपडे उतारकर इतिहास-धारा मे कवि बेलौस उतर गया हो और स्रोत तथा बहाव दोनो तरफ स्वय शरीक होता हुआ आ-जा रहा हो। 'दिल्ली की तरफ', 'इब्नेबतूता', 'बर्बरो का आगमन', 'आज का जमाना', 'भागते हुए', 'वह कभी नही सोया' तथा 'उस टीले तक' मे कवि शिकार, गवाह तथा आकलनकर्ता तीनो अलग-अलग या एक साथ है। इन कविताओ मे अपने युग को साकार कर देने की अद्भुत क्षमता है—ये लबी कविताए नही है लेकिन कुवर नारायण के कुशल हाथो मे आठ-आठ दस-दस या तीस-तीस पक्तियो की ये कविताए इतिहास के कई परिच्छेदो की कहानी कह रही हैं। इनमे से भी 'दिल्ली की तरफ', 'इब्नेबतूता', 'आज का जमाना', 'भागते हुए', 'वह कभी नही सोया' और 'उस टीले तक' मे अद्भुत उद्रेकी (evocative) शक्ति है। इन कविताओ मे से सिर्फ एक अश उद्धृत करना उन्हे नष्ट करना होगा इसलिए यही कहा जा सकता है कि यदि कुछ और नही तो इतिहास के विभिन्न कालो क मात्र शाब्दिक चित्रो के वास्ते ही इन्हे पढा जा सकता है हालाकि उनकी वास्तविक शक्ति तो चित्रित किए गये क्षण म विभिन्न अर्थों को आलोकित कर देने मे है। ये कविताए कुवर नारायण की अन्य कविताओ के साथ हिंदी कविता मे अपना विशिष्ट स्थान बनाएगी इसम मुझे कोई शक नहीं और यही कविताए है जो कुवर नारायण को उनके अन्य समवयस्क कवियो—रघुवीर सहाय, श्रीकात वर्मा, केदारनाथ सिंह—के बीच भी अपनी विशिष्ट पहचान बनाये रखने म समर्थ बनाती है। यह बहस अप्रासंगिक है और बेकार भी कि इनम से बडा कवि कौन है लेकिन यह स्पष्ट है कि अपने-अपने प्रकार की कविताओं से ये कवि महत्त्वपूर्ण है और कुवर नारायण की अपनी पहचान है स्वय को अनाटकीय तथा निश्छल रूप से सामान्य व्यक्ति बनाये रखते हुए भी पीडित सामान्यजन के पक्ष मे यथासभव खडे रहना, अपनी बुद्धि तथा विवेक की यथासभव रक्षा करना और उन्हे स्वय पर, अपने समय तथा विश्व पर तथा बीते हुए समय तथा हो चुके ससार पर लागू करना। इसमे वे उत्कृष्ट कवि है और आज की हिंदी कविता मे ऐसे एकमात्र। उनकी कई कविताए हिंदी के अनेक स्वघोषित प्रतिबद्ध कवियो स ज्यादा प्रतिबद्ध है क्योंकि उनम मसीहाई रूमानियत नही है और कागजी क्रांति नही है। वे वामपथी नही है लेकिन यदि अन्याय, अत्याचार, बर्बरता, तानाशाही तथा फासीवादी मानसिकता के विरुद्ध बिना गुर्राये, रेंक या हुहुआए खडा रहना प्रतिबद्धता है तो कुवर नारायण की पक्षधरता असदिग्ध है। वैसे किसी भी अच्छे कवि को इस तरह के प्रमाणपत्रो की आवश्यकता भी नही होनी—मेरी यह पुरानी आस्था है कि प्रत्येक वामपथी कवि अच्छा कवि भी हो यह कतई जरूरी नही, लेकिन प्रत्येक अच्छा कवि मूलत वामपथी, प्रतिबद्ध और जनता

का होता ही है और देर-सवेर तथाकथित वामपंथियों-जनवादियों को भी उसे ऐसा मानना ही पड़ता है।

कुंवर नारायण की कई कविताएं ऐसी हैं जो उनकी ही कविताओं के किसी विभाजन में नहीं रखी जा सकतीं—जैसे 'बधा शिकार' और 'पूरा जंगल', जो मुझे मंबद्ध कविताएं लगती हैं। दोनों में जंगल के किसी हिंस्र जानवर का चित्र है, 'बधा शिकार' में वह 'पर्सनालाइज़्ड' है। 'पूरा जंगल', जो ब्लेक की कविता 'टाइगर टाइगर बर्निंग ब्राइट' की याद दिलाती है, ब्लेक के ईश्वरवादी रहस्य-वाद को काट फेंकती है लेकिन उस हिंस्र पशु को अपने-आप में पूर्ण बनाती है—जो कुछ उसका है और उसके आस-पास है वह उसी के कारण है—और यह धारणा इस कविता को 'रेखा के दोनों ओर' की इन पंक्तियों से जोड़ती है—"लेकिन यह उसकी अपनी शैली थी—/इस तरह अपने को देखना/मानो वह नहीं उसकी वजह से/बाकी सब पूरा है"—यह वह गर्वोक्ति है जो कबीर जैसे अक्खड़ों, रहस्यवादियों में खूब मिलती है और जो उर्दू शायरी में 'हम से जमाना है, जमाने से हम नहीं' बनकर गूंजती है। वैसे भी किसी हिंस्र जानवर पर लिखी गयी यह हिंदी की एक अद्वितीय कविता है—इतना 'ऑब्जर्वेशन' हिंदी के कितने कवियों के पास है। 'बधा शिकार' में शेर को आकृष्ट करने के लिए बजाए किसी निरीह जानवर के बांधने के जीवित आदमी को ही बांध देने का रूपक है—आदमी जो सामान्यतः शिकारी हो सकता था अब खुद एक लाचार शिकार है। शेर कुछ भी हो सकता है—आदमी को घेर रहे सैकड़ों संकटों में से एक, यहां तक कि मृत्यु भी, पृथ्वी की मृत्यु भी—लेकिन 'वह अपनी खुर-दुरी देह को रगड़ता है/मेरी देह से जो अकड़कर वृक्ष हो गयी है' जैसे बेहतरीन ब्यौरे उसे सिर्फ एक कविता के रूप में भी उल्लेख्य बनाते हैं। 'पूरा जंगल' में यदि किसी हिंस्र पशु का चित्र है तो 'चील' में आकाशचारी का—'एक चील पर सारे आकाश को नचाती' का समांतर 'उसका पूरा जंगल है' और 'दूरबीनी आंखों से देखती हमें/कमबख्तियां जीते' का समांतर 'कथती उसकी आंखें... दया है,/क्रूरता है,/उपेक्षा है में है—हालांकि 'मनमौजी', 'नटखट गुदगुदी', 'हंसाती' और 'नन्ही-सी जान झूम-झूम जाती' जैसे शब्द कविता को कुछ कम-जोर बनाते हैं—चील में चुहल का यह तत्त्व उससे कुछ छीन-सा लेता है।

उलटबासी, विसंगति, वैपरीत्य, व्युत्क्रम, प्रत्याशित भूमिकाओं का अप्रत्याशित सहसा या धीमा परिवर्तन कुंवर नारायण की कुछ कविताओं में देखे जा सकते हैं और इनमें असंतोष, आशंका, आतंक, परिहास, व्यंग्य आदि जटिल तत्त्व जन्म लेते हैं। हम एक संकेत ऊपर कर आये हैं किंतु 'जब आदमी आदमी नहीं रह जाता' में 'जब मैं एक डरे हुए जानवर की तरह/उसे अकेला छोड़कर बच निकला था खतरे से सुरक्षा की ओर,/वह एक फंसे हुए जानवर की तरह/

खूखार हो गया था', 'तब भी कुछ नही हुआ' मे 'जिन नगे तारो को मैंने अकस्मात् छू लिया था/उनमे बिजली नही थी।/मुझे एक झटका लगा कि उनमें बिजली नही है।/ मुझे अक्सर एक झटका लगता है जब वहा/बिजली नही होती/जहा बिजली को होना चाहिए' या पूरी कविता 'एक अजीब दिन' (जो मुझे इस सकलन की अच्छी कविता नही लगती) या पूरी भयावह कविता 'इतिजाम' या 'मतलब का रिश्ता' की ये पक्तिया 'चमकता सूरज/आइने मे कोई दूसरा/आखो मे कोई दूसरा/कोई और कहता/मेरी बात औरो से/नाव की दिशा मे/बहती दूरी की पूरी नदी', 'बाकी कविता' की पक्तिया 'पत्तो पर पानी गिरने का अर्थ/पानी पर पत्ते गिरने के अर्थ से भिन्न है' 'खेल की पक्तिया ' ''हमारी अक्ल को हमारी ही अक्ल से/हैरान करें /और अत मे हम/ जादूगर पर ताज्जुब करते घर लौटे/अपने पर नहीं', 'सन्नाटा या शोर' की प्रारम्भिक पक्तिया 'कितना अजीब है/अपने ही सिरहाने बैठकर/अपने को गहरी नींद में सोते हुए देखना' मे अनेकायामीय अर्थों के विभिन्न विरोधाभास-विसगतिया है जो कुवर नारायण की कविता के सही मूल्याकन को एक रोमाचक अन्वेषण बनाते हैं। विसगतियो के इस आकलन के पीछे सब कुछ व्यर्थ है या हास्यास्पद है ऐसा मशा बिलकुल नही है बल्कि कुवर नारायण की कई उलटबासीनुमा स्थितिया उससे ज्यादा विस्तृत तथा गहरा विश्लेपण मागती है जितना यहा दिया जा सकता है—वे वर्षों के अनुभव, मनन, चिंतन तथा पठन-पाठन से उपजी जटिल चीजें हैं।

'जरूरतो के नाम पर' कुवर नारायण की एक ऐसी कविता है जो उनकी अन्य इसी तरह की कविताओ से मेल नही खाती—इसकी पहली पक्ति 'क्योंकि मैं गलत को गलत साबित कर देता हू' तथा बीच मे 'वे जो अपने से जीत नही पाते/सही बात का भी जीतना सह नही पाते' कुवर नारायण की कलम से निकली प्रतीत नही होती लेकिन अधिकाश व्यक्तिगत कविताओ मे वे एक 'लो प्रोफाइल' ही लिये नजर आते है, आम राय से अलग राय रखने के अपराध-भाव से ग्रस्त 'जहा झूठ है अन्याय है, कायरता है, मूर्खता है' वहा से हमेशा अपने को अधूरा छोड़कर चले आते है 'जहा सहयात्रियो के स्वार्थ की धमकी' उन्हे 'अक्सर इसी विकल्प की ओर ढकेलती है/कि चलती ट्रेन से बाहर कूद जाऊं', यद्यपि वे जानते है कि नैतिक अकेलेपन को जिंदा रखने या अपने से सच कहने की बजाय किसी बातूनी मौके का फायदा उठाकर उस बहस मे भी लगा जा सकता है जिसमे व्यक्ति अपनी सारी जिम्मेदारियो से छूटकर अपना वकील बन जाता है क्योंकि झूठ एक कला है, और/हर आदमी कलाकार है जो यथार्थ को नही/अपने यथार्थ को/कोई-न-कोई अर्थ देने की कोशिश मे पागल है। कुवर नारायण की इस तरह की कविताए बडी हद तक

आत्मपरक, 'कन्फैशनल' है और उनमे से कुछ तो केवल उनके जीवन-सिद्धातो को ही नही बल्कि कला सिद्धातो को भी मुखरित करती है। इस तरह की कविताओ मे कुवर नारायण भरसक 'होलीअर दैन दाउ' की मुद्रा से बच सके है और आत्मदया तथा आत्मपीडा से भी। इनमे उन्होने अपने या अपनी कविता या विश्वासो के लिए रियायत या रहम नही चाहा है बल्कि एक बराबरी के इसान की तरह समझ सहिष्णुता तथा स्वायत्तता की माग की है, अपने अनुभव तथा विवेक की शर्तो पर जीवन तथा कला को गढने की माग की है। देखा जाय तो इस तरह की कविताए एक दूसरी तरह की समीक्षा, दूसरे तरह के साहित्य-शास्त्र की माग ही प्रस्तुत नही करती बल्कि उसे आधार तथा आकार भी देती हैं।

यद्यपि मैं कुवर नारायण की पद्रह कविताओ—'एक अजीब दिन,, 'ऊचा उठा सिर', 'शनाख्त के सिलसिले', 'चलती हुई सडकें', 'लखनऊ', 'अनुचित लगता है अब', 'जरूरतो के नाम पर', 'लाउडस्पीकर', 'गाय', 'अकेली खुशी', 'दूर तक', 'पहले भी आया हू', 'काले लोग', 'लापता का हुलिया' और 'काफी बाद'—को विभिन्न कारणो से पसद नही कर सका और श्रेष्ठ शेष छप्पन मे से कुछ एक का बिल्कुल उल्लेख न कर सका किंतु मेरा विश्वास है कि 'अपने सामने' की कविताए कुवर नारायण की काव्य-यात्रा मे एक अत्यत महत्त्वपूर्ण उपलब्धि हैं जिसमे उन्होने अपनी छवि को अतिक्रमित किया है। भाषा, कथ्य और शिल्प तीनो के स्तर पर 'अपने सामने' की कविताए उनकी पिछली सारी काव्य कृतियो से बहुत आगे की जमीन पर खडी हुई है—जहा भाषा पैनी और लचीली हुई है, वहा पहले की अतिशय बौद्धिकता या विचारशीलता भी कविता बन सकी है। कुवर नारायण को 'कवियो का कवि' बन जाने का बहुत खतरा था—'अपने सामने' की कविताए पढकर यह आश्वस्ति होती है कि वे कवियो के लिए ही नही, बल्कि आज की तथा आने वाली कविता और उसके पाठको के लिए भी प्रासगिक कवि बने रहेगे। यहा इसका अवकाश नही है कि कुवर नारायण की पिछली कविताओ तथा इन कविताओ को परस्पर सामने रखा जाय लेकिन १८ वर्ष ('परिवेश हम-तुम' के बाद) या १४ वर्ष ('आत्मजयी') के बाद नयी कविता के सस्कारो को नैसर्गिक रूप से त्यागते हुए वे हिंदी साहित्य मे आठवें दशक के अत तथा नवें दशक के प्रारभ मे भी अपने लिए एक निजी तथा प्रासगिक स्थान बना पाए हैं। यह अच्छे कवियो के सूखे से ग्रस्त समसामयिक कविता की मरुभूमि के लिए अप्रत्याशित वर्षा की तरह है।

कोई भी अच्छा कवि किसी भी आलोचक की गिरफ्त मे पूरा नही आता—किसी अच्छी किताब की मुकम्मिल समीक्षा के लिए शायद एक दूसरी ही किताब लिखनी पडती है और फिर भी लगेगा कि कुछ छूट-सा गया है। किसी अच्छे

सक्लन की एक भी अच्छी कविता की एक पक्ति को भी, एक शब्द तक को भी आलस्य, लापरवाही, प्रमाद या अहमन्यता मे नजरअदाज करना कवि का तो ज्यादा कुछ नही बिगाडता, तथाकथित आलोचक की कलई अवश्य खोल देता है। कुवर नारायण की इन कविताओं मे ऐसे कई आतरिक 'ट्राजीशन' हैं, 'मैं', 'तुम', 'वह' और 'हम' के अनेक रूप और अर्थ हैं, फिर उसके बाद उनकी कुछ प्रेम-कविताए है या प्रेम तथा प्रकृति की मिली-जुली कविताए हैं, कुछ कवि-कर्म को लेकर परेशानी की रचनाए हैं, जिनका विस्तार से विश्लेपण होना चाहिए। भावनाओ और विचारो को बौद्धिक या आध्यात्मिक चिता या सक्ट की कविता का रूप देने वाले हिंदी मे एकमात्र कवि कुवर नारायण हैं—आदमी होने की 'क्राइसिस' के वे एक साथ एक व्यक्ति, एक भारतीय तथा एक विश्व-नागरिक के रूप मे कवि हैं और यह भी सिर्फ वर्तमान समय-बिंदु पर नहीं, बल्कि एक ऐतिहासिक नैरतर्य मे। ऐसे कवि की कोई भी अच्छी कविता आलोचक से केवल सहृदयता, रसज्ञता अथवा आस्वादकता से कही ज्यादा माग करती है—लगभग पूरा जागरूक मनुष्य होने की माग करती है। कुवर नारायण की कविता आलोचक के लिए एक बहुत बडी और श्रेयस्कर चुनौती है जिससे कतराकर वह अपने को समृद्ध बनाने का और आज की कविता तथा विश्व की जटिलता से मुठभेड का एक सुअवसर ही गवायेगा।

फर्क पड़ता है

केदारनाथ सिंह पिछले बीस वर्षों से अधिक समय से कविताए लिख रहे हैं किंतु उनका पिछला संग्रह बीस वर्ष पहले प्रकाशित हुआ था। बीस वर्ष का यह अंतराल हिंदी कविता के लिए भी महत्त्वपूर्ण है—१९६० में मुक्तिबोध की खोज नही हुई थी, धूमिल का दूर-दूर तक नामोनिशान नही था और कवि या समीक्षक को यह गुमान भी न था कि आगामी बीस वर्ष ही हिंदी कविता के निर्णायक वर्ष होंगे। पिछले दो दशक कई तरह की कविताओं और कवियों के तिरोहण के दशक रहे है। अज्ञेय तथा उनसे प्रेरणा प्राप्त करने वाली कविता और काव्य चिन्ता अप्रासंगिक हो चुके हैं, अकविता काल के कराल गाल मे बिला गये किंतु मुक्तिबोध पूरे काव्य-दृश्य को सूर्य की तरह आलोकित कर रहे हैं। मुक्तिबोध के अलावा भी सार्थक कवि है—यद्यपि इस बीच अनेक युवा कवि भी आये जिनमे से अधिकांश उल्काओं की तरह विलीन हो गये, या कुछ जिनमे मुक्तिबोध जैसी जिम्मेदारी और प्रतिबद्धता है और वैविध्य मुक्तिबोध से ज्यादा है। बहुत-कुछ गीतात्मकता तथा उसके बाद 'नयी कविता' के संस्कारों मे शुरू करने वाले केदारनाथ सिंह इन बीस वर्षों मे न डरे न दिग्भ्रमित हुए। वे इस या उस भगदड़ मे शामिल नही हुए। हिन्दी मे इतना धैर्य, मजबूती, बेफिक्री—और इतना आत्मविश्वास भी—कम ही मिलते हैं। युवा कवियों के पदार्पण से वरिष्ठ कवि चिंतित न हो यह तो समझ मे आता है किंतु अपने तीन महत्त्वपूर्ण समकालीनों—रघुवीर सहाय, कुंवर नारायण और श्रीकांत वर्मा की बदलती विकसित होती कविता तथा बढ़ती हुई प्रतिष्ठा से भी वे विचलित नही हुए यह एक सुखद आश्चर्य है। 'जमीन पक रही है' मे केदारजी की पैंतालीस कविताए हैं—बीस वर्षों मे प्रकाशन-योग्य समझी गयी पैंतालीस कविताए यानी औसतन एक वर्ष मे तीन कविताए भी नही। अज्ञेय

सरीखे अर्थगर्भ मौनी की सैकडो कविताए इस बीच खाद बन गयी और अनेक ग्रामीण, कस्बाई और नागर युवा कवियो ने भी हिंदी को कूडेदान बनाने मे कोई कसर नही छोडी। पैंतालीस कविताओ का यह संकलन भी किसी अतिरिक्त आत्मविश्वास या आत्माभिनंदन की उपज नही है। सग्रह की कविताए कोई बडे दावे नही करती—'मेरी कठिनाई यह है/कि मैं चीजो को जानता हू' के बावजूद सचाई यह है कि वे चीजो के त्रासद अहसास की कविताए हैं, दार्शिक ज्ञान की नही।

यह नही है कि मैंने 'जमीन पक रही है' की सारी कविताए नही पढी हैं—सच तो यह है कि इस सग्रह के एक एक शब्द को कई बार पढा है किंतु यह कोई शर्त नही है कि यदि कोई सकलन आपको महत्त्वपूर्ण लगा है तो उसकी सारी कविताए आपको महत्त्वपूर्ण या समान रूप से उल्लेखनीय लगें। किसी कविता-सग्रह की सारी कविताए पूरी-की-पूरी खराब लगें यह तो सभव है—हिन्दी के ज्यादातर सग्रहो की यही हालत है—किंतु यदि किसी सग्रह मे अच्छी कविताए है तो स्पष्ट है कि सारी अच्छी नही होंगी या समान रूप से अच्छी नही होंगी। एक सकलन ही क्यो, बडे-से बडे कवि की भी सपूर्ण कविताए एक जैसी पठनीय नही होती—निराला, मुक्तिबोध, शमशेर, नेरुदा, ब्रेख्ट, एलियट आदि की सारी कविताओ को एक जैसा सराह पाना या सबको सराह पाना किसी मूढ भक्त का ही काम हो सकता है। दरअसल हर रचनाकार के पास देने के लिए एक कोड सामग्री ही होती है—एक दैदीप्यमान सर्जनात्मक ऊर्जा केन्द्र जिसमे से उसकी सारी रचनाए फूटती हैं। यह सर्जनात्मक भभक कभी बहुत ऊची हो सकती है और कभी सिर्फ एक चिन्गारी। हमे इस चिन्गारी या लपट से ही कवि की शक्ति का सकेत पाना होता है। इसलिए यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि केदारनाथ सिंह के इस सकलन पर या उनकी कविता पर बात करते समय जो रचनाए मैं अपने सामने रख रहा हू वे हैं—सूर्य, जमीन, आवाज, प्रतीक्षा के विरुद्ध कुछ पक्तिया, दुश्मन, रोटी, टमाटर बेचने वाली बुढिया, बैल, बढई और चिडिया, फर्क नहीं पडता, एक प्रेम कविता को पढकर, जो एक स्त्री को जानता है, बारिश, गर्मी मे सूखते हुए कपडे, मैदान मे बच्चे तथा धूप में घोडे पर बहस। एक सकलन मे चर्चा करने लायक सोलह कविताए हो यह अपने आप मे एक उपलब्धि लगती है।

इन सोलह कविताओ के शीर्षक ही केदारनाथ सिंह की दुनिया का जुगराफिया समझाने के लिए काफी हैं—उसमे सूरज, धरती, मैदान, बारिश, गर्मी, धूप, आवाजें, बुढिया, बढई, स्त्री, बच्चे, बैल, घोडे, चिडिया, रोटी, टमाटर, कपडे, प्रेम और दुश्मन आदि हैं। दो शीर्षक ही ऐसे हैं जो ठोस ससार के नही हैं किंतु उनके पीछे खासा मूर्त रूप है। स्पष्ट है कि केदारजी

ठोस चीजो के कवि हैं (ठोस शब्द उन्हे अच्छा भी लगता है और उनकी कविताओ मे लौटता रहता है) और उनकी प्रतिभा चिरतनवादी घटाटोप म ठस नही हो गयी है। किंतु कविताओ और उनके सग्रहो क शीर्षक ही उन्हें श्रेष्ठ बना पाते तो हिंदी के अधिकाश कवि कुकवि क्यो होते, महाकवि न हो जाते। केदारनाथ सिंह की कविताए और उनके शीर्षक एक-दूसरे को सार्थकता और नयी अस्मिता प्रदान करते हैं। उनकी कविता की पहली पहचान अपनी दुनिया की चीजो को बहुत गहरे डूबकर प्यार करना है। इसे आप चाहे तो गीतात्मकता कह लें या रूमानियत—जबकि ध्यान से पढने के बाद आप पाएगे कि दरअसल आपको उसे एक उत्कृष्ट मानवीय लगाव कहना चाहिए था। उनकी कविता इस दुनिया मे आकर मूलत प्रसन्न और उल्लसित है, आदमी होना केदारजी के यहा खुश होना है, चीजों को सुनना, देखना, छूना, सूघना, चखना है धरती, सूरज, चाद, सितारो को देखकर चमत्कृत होना ही नहीं है, उन्हे अपना समझना है, यह जानना है कि ये सब आदमी और उसके सुख के लिए बने हैं। यह बहुत खतरनाक हो सकता था और उन्हे **पाच जोड बासुरी** छाप कवि ही बनाये रख सकता था किंतु वे इस स्वर्ग मे सर्प भी देख पाते है। बात सिर्फ यह है कि उन्हें केवल सापो ही सापो के दु स्वप्न नही आते—अपने होने के प्रति स्वस्थ लगाव और उसमे एक स्वस्थ आह्लाद ऐसे दु स्वप्नो के शत्रु हैं। उनकी कविताओ के केन्द्रीय मानव-प्रेम, मानव द्वारा बनायी गयी उपयोगी वस्तुओ, उसके लिए उपयोगी प्रकृति, मानवीय भावनाओ के प्रति स्नेह ने जहा उन्हे एक स्वस्थ रूमानी कवि बनाया वहा दूसरी ओर उनकी कविता को साठोत्तरी और सत्तरोत्तरी वादो से बहुत दूर रखा। केदारनाथ सिंह पिछले दो दशको के उन मुट्ठी भर कवियो म से हैं जिन्होने मानवद्रोही तथा रुग्ण पाखडो से अपनी कविता को मुक्त रखा है। उनके यहा निहिलिज्म सिनिसिज्म, फासिज्म-समर्थक अनेकातवाद, विश्वघृणा, आत्मविद्रूप आदि अनुपस्थित है—यह उस समय जब पिछले बीस वर्षों के उनकी पीढी के और उनकी बाद की पीढी के अधिकाश कवियो मे ये प्रवृत्तिया प्रारभिक रूप म ही सही, किंतु दिख अवश्य जाएगी। इसका अर्थ यह कतई नही है कि केदारजी ने एक रूमानी रेगिस्तान मे मुह धसा लिया है और बुरी खबरो की तरफ से कान बद कर लिये हैं।

केदारनाथ सिंह के यहा शब्दो और भावनाओ का अपव्यय नही है। उनकी कविताए मसीहाई या क्रातिकारी मुद्राए नही अपनाती, वे बहुत छोटे-छोटे हर्ष-विषाद और जद्दोजहद की कविताए हैं, 'थोडा लिखा ज्यादा समझना' के सदेश हैं। उनम छोटा या मामूली आदमी होने की न तो मगिमा हैं, न लज्जा, न पश्चात्ताप—बल्कि अधिकतर कविताओ म वे स्वय को उघाडकर निहत्था रख देते हैं। छोटी-छोटी चीजो, इन्सानो गनीमती के असली, महसूस किये हुए चित्रो

से वे आदमी और आदमी के बीच के रिश्तो को स्पष्ट करते हैं। वे जानते हैं कि ये रिश्ते हमेशा आदर्श, मधुर और मानवीय नही होते, इसीलिए उनकी कविताओ मे अमूर्त आदमी नही है बल्कि जिदगी से सीधे लिये गये लोग, उनकी तकलीफें, सपने और सचाइया हैं। केदारजी के भूखे आदमी, पिता की चाय के लिए अलस्सुबह दूध खरीदने जाता अकेला बच्चा, बढई, दर्जी, औरत, मा, झुम्मन मिया, दोस्त, बुढिया, बच्चे, लडके, बस का इतजार करती स्त्री, नगी पीठ वाला आदमी, पिटने वाला आदमी, बहस करते हुए मित्र, मल्लाह, हलवाहा, हज्जाम आदि रणबाकुरे आराध्यो मे परिवर्तित नही किये गये हैं। वे सिर्फ आदमी है, उनका आदर्शीकरण या स्वर्गारोहण केदारजी का अभीष्ट नही।

आदमी से इतना रिश्ता रखते हुए भी उनकी कविताए मात्र मानव केंद्रित नही हैं। दरअसल मानव और प्रकृति के बीच सबध को उसके विभिन्न आयामो में जितना उन्होने देखा है हिंदी के किसी भी समकालीन कवि ने शायद ही देखा हो। आदमी की उपस्थिति के बिना प्रकृति एक बेजान और नैतिक मूल्यो से रहित वस्तु है—आदमी का मस्तिष्क ही वृहत्तर प्रकृति के विकास का वह हिस्सा है जो प्रकृति को अर्थ देता है। प्रकृति जहा गीतात्मक है वहा उसके पजे और दात भी हैं। केदारजी की कविताओं मे कही भी 'प्रकृति चित्रण' केवल प्रकृति चित्रण की अय्याशी के लिए नही है बल्कि प्रकृति उनके यहा हमेशा आदमी की विभिन्न भावनाओ और परिस्थितिया के जरिए देखी गयी चीज है। प्रकृति उनके लिए मानव से पलायन नही है बल्कि परस्पर सतुलन और मित्रता की खोज है। आदमी के दिमाग मे और समाज मे जब तक मानव-द्रोही तत्त्व रहगे तब तक प्रकृतिद्रोह एक विभीषिका बना रहेगा और शायद मानव की समाप्ति का कारण भी बनेगा। केदारनाथ सिंह की कविताए इसी-लिए आदमी की आदमियत की खोज, उसमे गहरी आस्था और उसके प्रति अदम्य प्रतिबद्धता की कविताए हैं।

किंतु जिनके लिए आदमियत की खोज महज सामयिकता तक आकर रुक जाती हैं ऐसे नित्यकर्मी दिमागो को यह तकलीफ हो सकती है कि केदारजी रोज सुबह अखबार की सुर्खिया पढकर कविताए नही लिखते। जब हमारे जमाने के सबसे ज्यादा जागरूक कवि मुक्तिबोध ने इसकी कोई आवश्यकता नही समझी और रघुवीर सहाय के यहा भी समसामयिक या नगर-सस्करण होने की आसानीपसद अवसरवादिता और कविता और मानव-विरोधी हरकत नही है तो वह केदारनाथ सिंह के यहा क्यो हो जिन्होने अपनी आस्था, प्रति-बद्धता, रोष, और प्रेम को अपनी तरह लिखने का कठिन रास्ता चुना? हिंदी के अधिकाश कवि और आलोचक, जिनके पास प्राथमिक बुद्धि भी नही है, अपने लेखे एक तरह की कविता और उसकी एकायामीय व्याख्या से चिपक

जाते हैं और उसी साँचे में सबको ढालना चाहते हैं। हिंदी में आज के समाज और देश को लेकर शमशेर अपने ढंग से व्यग्र हैं, त्रिलोचन, नागार्जुन, रघुवीर सहाय, कुंवर नारायण अपने ढंग से और धूमिल, चंद्रकांत देवताले, सौमित्र मोहन, ज्ञानेन्द्रपति अपने-अपने ढंग से। इनमें एक तरीका केदारनाथ सिंह का भी है—इस समय सैंकड़ो कवि आज की राजनीति, आज के समाज पर कविताएं लिख रहे हैं फिर उनमें से मुट्ठी भर ही क्यों बच रहते हैं और उनमें केदारनाथ सिंह भी क्या उल्लेखनीय हैं इसकी कुंजी मात्र समसामयिक होने में ही नहीं है—या बस उसी में है।

केदारजी की कविताओं में व्यक्तिगत और सार्वजनीन, सूक्ष्म और स्थूल, शांत और हिंस्र के बीच आवाजाही तनाव और द्वंद्वात्मकता लगातार देखी जा सकती है। सूर्य कविता की पहली आठ या शायद नौ पंक्तियां कुहरे में धूप जैसा गुनगुना मूड तैयार करती ही है कि लुहार चमक, आदमी का खून, गंजा या मुस्टंड आदमी, सर उठाने की यातना इस गीतात्मक मूड को जहां एक ओर नष्ट करते से लगते हैं वहां उसका कंट्रास्ट भी देते हैं। इसी कविता की अंतिम चार पंक्तियों में एक और विरोधाभास है—कवि एक ओर तो कहता है कि सिर्फ सूर्य ही एक ऐसी चीज है जिस पर बस्ती के लोग भरोसा कर सकते हैं किंतु दूसरी ओर वह यह भी जानता है कि सूर्य पर बस रोटी ही नहीं सेंकी जा सकती। स्पष्ट है कि आदमी के लिए रोटी सेंक पाना उन सब कार्यों से कठिन है जो सूर्य आसानी से कर पाता है। रोटी आदमी को ही सेंकनी होगी यह तो साफ है किंतु एक और संभावना यह भी है कि हिंदी कविता में 'सूर्य' प्रतीक के अति-प्रयोग की तरफ भी कवि इशारा कर रहा हो। इसका प्रमाण प्रतीक्षा के विरुद्ध कुछ पंक्तियां में इस तरह देखा जा सकता है—'कुछ शब्द है—जैसे सूर्योदय/जिनके जादू से बचना चाहिए'। कवि जानता है कि कितना बदल जाता है सब कुछ/यहां तक भजन का स्वाद भी/सिर्फ यह कहने से कि आज बुध नहीं बृहस्पति है' और यह कि 'चिड़िया/तुम्हारे कोट के जेबों से नहीं/बल्कि चिड़िया निकलती हैं/शहर की सबसे मनहूस इमारतों से'। मृदु से कठोर की ओर यह यात्रा रोटी, बढ़ई और चिड़िया, गर्मी में सूखते कपड़े तथा मैदान में बच्चे कविताओं में भी है लेकिन जहां बढ़ई और चिड़िया और गर्मी में सूखते हुए कपड़े में यह फिर भी सांकेतिक है, शेष दो में यह काफी साफ है—यद्यपि वहां भी मुखरता या प्रगल्भता नहीं है। दुनिया की सबसे आश्चर्यजनक चीज रोटी ताप, गरिमा तथा गंध के साथ पक रही है। केदार जी चाहते तो इस मृदु चित्र को कुछ और पंक्तियों में ले जा सकते थे लेकिन शीघ्र ही रोटी एक झपट्टा मारने वाली चीज में बदल जाती है और कवि आदिमानव के युग में पहुंच जाता है—वह कहता अवश्य है कि पकना लौटना

नही है जडो की ओर, किंतु रोटी का पकना उसे आदिम जडो की ओर ही ले जाता है—उसकी गरमाहट उसे नीद से जगा रही है, आदमी के विचारो तक पहुच रही है और वह समझ रहा है कि रोटी भूखे आदमी की नीद मे नही गिरेगी बल्कि उसका शिकार करना होगा और यह समझना कविता लिखते हुए भी कविता लिखने की हिमाकत नही बल्कि आग की ओर इशारा करना है। **मैदान मे बच्चे** मे कवि कुछ दूर तक शामिल होता है, किंतु कुछ देर बाद उनकी उपस्थिति अपर्याप्त और अत मे शायद अनावश्यक हो जाती है—गेंद की तलाश मे शहर की ओर मुट्ठिया ताने बढते हुए नाराज बच्चो के लिए वह अदृश्य है। वह जो घास-भरा मैदान था, एक बे-चेहरा चीज हो जाता है—केदारजी की यह कविता एक ओर तो भावुकता से वयस्कता की ओर बढ जाने का सकेत है और दूसरी ओर मोह भग का भी। **गर्मी में सूखते हुए कपड़े** उनकी इस तरह की कविताओ मे सबसे कम ललित है—यानी सारी ललित भावनाओ की सजग, निर्मम छटाई उसमे हुई है और कविता अपने नितात अनलकृत 'सौंदर्य' मे अपने सारे प्राकृतिक गुणो के साथ सामने है—इसीलिए उसकी अतिम पक्तियो की कठोरता उसी अनुपात मे है—यानी सबसे कम कठोर। शायद यह केदारजी की सबसे ज्यादा धोखादेह कविता है—एक स्तर पर एकदम चाक्षुष तथा वर्णनात्मक और दूसरे पर लोहे की तरह धीरे-धीरे गरम होने वाली। **बढई और चिडिया** मे भी कोमल और क्रूर के बीच विलक्षण तनाव है—वहा गिलहरी की पूछ के साथ बाघिन की गुर्राहट है और अत मे स्वय लकडी के अदर फसी हुई चीखती चिडिया है।

सवाल यह है कि जब केदारनाथ सिंह कठोर, क्रूर या हिंस्र होते है तो उनकी कविता हमसे क्या कहती है—क्या वह सिर्फ एक तरकीब है या उसके तकाजे हैं? उनका कठोर होना उनकी कविता को कहा ले जाता है, हिंदी कविता को कहा ले जाता है और उनके पाठक को क्या देता है? जिन सोलह कविताओ का हम जिक्र कर रहे हैं उनके अतिरिक्त भी जमीन पक रही है मे अनेक कविताए है जिनका तीखापन छिपा हुआ नही है बल्कि बहुत ज्यादा साफ है—केदारनाथ सिंह जैसे कवि के लिए बहुत ज्यादा साफ। जब कवि एक खास स्थान बना लेता है तो उसे बहुत कुछ करने की रियायत नही दी जाती—वह अपनी उपलब्धि से सीमित भी हो जाता है। हम केदारनाथ सिंह की अपेक्षाकृत कम अच्छी या एकदम उनके अयोग्य कविताओ की बात नही कर रहे हैं किंतु जिन कविताओ मे वे कमोबेश अपनी पूरी ताकत से उपस्थित हैं उनमे उनका क्या सदेश है? केदारजी की हमदर्दी किसके साथ है यह बताना न होगा—उन्हें अपनी सहानुभूति प्रदर्शित करने के लिए कवायद या कसरत नही करनी पडती। बल्कि यू कहें कि उन्होने व्यायाम का वह रास्ता स्वय ही नही चुना

ओर शब्द टमाटर है जो मा तक पहुचाते हैं वहा स्वय कवि वह बढ़ई है जो दाने को चीरता हुआ उस आरे और फिर आरे से चक्की और चक्की से मा की आवाज तक पहुचता है—इस चीरने के अत मे चिडिया की चीख नही, बल्कि मा के गाने की आवाज है। यहा यह बात ध्यान देने लायक है कि केदारजी की कविताओ की मा उनकी मा नही है—वह दरअसल मेहनतकश, सताई गयी किंतु अपनी विपन्नता मे पूरी गरिमा लिए हुए एक सर्वहारा मा है जिसमे हम जैसे सब अपनी मा की तस्वीर देख सकते हैं।

यहा एक सदेह हो सकता है—क्या केदारनाथ सिंह शब्दो, बिंबो और चित्रो के जादूगर है ? क्या उन्होने अपनी कवि-सुलभ शक्तियो का खतरनाक फायदा उठाया है, हम पर मेस्मरिज्म, इद्रजाल, सम्मोहन, हिप्नोटिज्म का प्रयोग किया है ? क्या वे अपने शब्दो, बिंबो और चित्रो को सगीत—बहुत ललित सगीत—के स्वरो की तरह इस्तेमाल करते हैं और एक सिद्धहस्त सितार या पियानो या वायलिन वादक की तरह आरोह और अवरोह की द्रुत आतिशबाजी से हमे मोह रहे हैं ? केदारजी के यहा बिंब और चित्र हैं इससे कौन इन्कार कर सकता है—कई बार उनमें कोई 'सबध' ढूढ पाना मुश्किल होता है यह भी सही है। लेकिन जो एक स्त्री को जानता है कविता केदारनाथ सिंह की कविताओ मे शिल्प को समझने मे बहुत सहायक हो सकती है। कविता की शुरुआत एक हल्की उदासी एव मृदु स्वीकार से होती है और 'पॅसिवनैस' (इसके लिए कोई हिंदी शब्द शायद नही है) का यह दायरा फैलता हुआ अनेक गीतात्मक और अगीतात्मक चीजो को अपने मे समेटता जाता है—जो भावना दया, करुणा, तरस तथा विसूरने मे पतित हो सकती थी धीरे-धीरे अपने आस-पास अनेक चीजो के होने के अहसास मे बदल जाती है और जहा कवि अपने शोक या पीडा या नैराश्य मे 'विशिष्ट' होने जा रहा था, सृष्टि मे अनेक के बीच एक होने की अनुभूति—सृष्टि और अस्तित्व के विराट् गणतत्र का एक-दूसरो की ही तरह वैध्य नागरिक—पर अनेक तरह की खट्टी-चिरपिरी-मीठी अनुभूतियो के एक सिलसिले को पार करता हुआ पहुचता है जहा उसकी भावनाओ, विचारो, हृदय तथा मस्तिष्क मे जो भी अतिरिक्त था वह छिलकर या तपकर गिर जाता है और एक परिशुद्ध, दमकता हुआ सार ही बच रहता है। यह चमत्कार केदारजी की प्रत्येक कविता मे होता हो ऐसा न तो सभव है और न आवश्यक, किंतु उनकी कविताओ की शब्द-यात्रा या बिंब-यात्रा या चित्र-यात्रा विभिन्न प्रक्रियाओ के विभिन्न चरणो से गुजरती हुई एक 'प्यूरिफिकेशन' की यात्रा है—वह कितनी सफल है और कितनी शुद्धि वह प्राप्त कर पाती है यह भले ही हर कविता मे अलग-अलग हो। केदारजी की कविताए इसलिए हमेशा एक 'डायलैक्टिक' मे विकसित होती हैं, उसे आप चाहे तो शिल्पगत 'डाय-

लैक्टिक' कहें या कथ्यगत—या दोनो साथ-साथ। उन्हे पढ़ते समय कभी-कभी बरबस डबल हेलिक्स का चित्र कल्पना मे आता है।

केदारनाथ सिंह चीजो का वर्णन ठीक-ठीक करने वाले हिंदी के विरले कवियो मे हैं और चीजो का ठीक-ठीक वर्णन जहा एक ओर सौंदर्य और उल्लास की ओर ले जाता है वहा वह जीवन की विसगतिया, एब्सर्डिटीज की ओर भी ले जाता है। केदारनाथ सिंह की दृष्टि सीमित नहीं है यह इसी से जाहिर हो जाता है कि उनके यहा एक खासे कसैले स्वाद की कविताए भी हैं जैसे भीड के विरुद्ध एक शब्द, ढाल से उतरते हुए, बाजार से लौटकर, बहस और धूप मे घोड़े पर बहस। पहली चार कविताए आत्मपरक शैली मे हैं किंतु उनमे विसगति का रुग्ण इस्तेमाल फिर भी नही है। इस तरह की कविताओ मे सबसे दिलचस्प धूप मे घोड़े पर बहस ही है। विशद व्याख्या यहा संभव नही है—बहस तीन आदमियो के बीच मे हो रही है—विषय घोडा है जो वहा दूर-दूर तक उपस्थित नही है। केदारजी का विट् यहा अपनी पूरी ताकत के साथ मौजूद है—कविता दो-तीन दफे बहुत खतरनाक ढग से किसी 'अर्थ' या 'प्रतीक' के समीप आकर लौट जाती है। उनकी द्वद्वात्मकता एक चीज स्थापित करती और फिर उसी को काट देती है। बहुत किस्म के नाटकीय वक्तव्य दिए जाते हैं—काफी उत्तेजना फैलती है—एक अतिम सनसनीखेज भविष्यवाणीनुमा फतवा दिया जाता है और फिर लबे समय तक कोई बहस नही होती। सवाल यह नहीं है कि पहला, दूसरा और तीसरा अलग-अलग और क्या है, घोडे क्या हैं और आकडे क्या हैं—जो चीज स्पष्ट है वह यह है तीनो एक-दूसरे का स्थान ले सकते हैं। कविता की अतिम पक्तिया कॉमिकल हैं, ट्रैजिक भी और भयावह भी। पूरी कविता कई तरह की व्याख्याओ की छूट देती है—जो एक महत्त्वपूर्ण गुण होना चाहिए। फर्क नहीं पडता इसी विसगति से जन्म लेती है किंतु फर्क नही पडता वाली विसगति मानव-विरोध के इतने समीप है कि उसमे कुछ पाने के लिए कविता मे अनेक क्रूर विकल्पो को रखना पडता और गलत समझे जाने का खतरा बना रहना इसलिए केदारनाथ सिंह फर्क नहीं पडता मे तुरत सही चीजो का पक्ष लेते हैं और अत तक आते आते फर्क नहीं पडता को फर्क पड़ता है मे बदल देते हैं।

मेरे सामने समस्या है

श्रीकांत वर्मा हिंदी के शायद एकमात्र युवा कवि हैं जिनकी एक वर्ष मे दो कृतिया—'दिनारभ' तथा 'माया-दर्पण' प्रकाशित हुई हैं। प्रश्न उठाया जा सकता है कि जब दोनो कविता-सग्रह है तो अलग-अलग प्रकाशित क्यो हुए ? उत्तर कई हो सकते हैं—व्यावसायिक सुविधा के, अवसर के अथवा दो तरह की कृतियो मे एक विभाजन-रेखा देखने-दिखाने की कवि की आकाक्षा के। पहले दो किस्म के उत्तरो मे हमारी कोई रुचि नही होनी चाहिए—कवि किस तरह अपनी कविताए प्रकाशित कर पाता है यह प्रश्न उठाना अब नितात अर्थहीन है। हा, यदि कवि यह चाहता है कि उसके पाठक तथा आलोचक एक साथ प्रकाशित उसके दो सग्रहो मे बीच कोई रेखा खीचें और उस सीमाकन से उसके कृतित्व पर कोई विशिष्ट प्रकाश पडे, तब एक ही वर्ष मे एक कवि के दो सग्रह प्रकाशित होना यकायक महत्त्वपूर्ण हो उठता है और पाठक (यदि कविता का कोई पाठक है—आलोचको, कवियो तथा प्रच्छन्न कवियो के अलावा) उत्सुकता से उनकी ओर बढता है।

'तुलना' करने की यह आकाक्षा जहा अत्यत स्वाभाविक है वहा इसमे एक सुविधा भी जुडी हुई है, जिसकी ओर मीडियाकर मस्तिष्क तुरत आकृष्ट होता है। 'सूर' और 'तुलसी' की तुलना हिंदी विश्वविद्यालयो मे पचास वर्ष होते आए होंगे और ऐसे कई पचास वर्षो तक वह होती रहेगी इसमे सदेह करने का कोई कारण नही दीखता। तुलना मे एक छद्म गणित होता है जिससे दिमागी *काहिली को बडा चैन मिलता है किंतु एक दिए गए समय मे एक ही कवि की* दो कृतियो की 'तुलना' या 'कन्फ्रटेशन' इस अर्थ मे असगत नही होगे कि कवि इन अलग-अलग सग्रहो मे अपनी कला, शिल्प या विश्वासो के विषय मे अलग-अलग क्या कहना चाहता है। मेरी तो यह भी धारणा है कि यदि किसी कवि

का उसी अवधि मे कोई उपन्यास, या किसी उपन्यासकार का काव्य-सग्रह प्रकाशित हुआ हो तो इन भिन्न-भिन्न विधाओ वाली कृतियो के बीच भी कही-न-कही कोई रागात्मक अथवा तकनीकी सबध अथवा तनाव रहता होगा और ऐसी अतर्विधात्मक 'तुलना' का भी प्रयास किया जाना चाहिए।

'दिनारभ' की छियालीस कविताओ मे से अडतीस बहुत छोटी कविताए हैं। अभी यह तय करना कठिन है कि हिंदी मे ऐसी छोटी कविताए लिखी जा रही हैं जो काव्य की शर्तों को पूरा भी करती है या महज एक फैशन हैं। मैं यहा पर 'हाइकू' वगैरह की चर्चा न करते हुए केवल छोटी कविताओ के औचित्य पर बहस करना चाहता हू। छोटी कविताओ के साथ कठिनाई यह है कि उन्हें स्पष्ट भी होना चाहिए और सपृक्त भी। न्यूनतम शब्दो मे अधिकतम कह पाना आदिकाल से कवियो के आदर्शों मे शुमार है किंतु कविता 'हिंदी मे तार भेजिए' वाली भाषा तो नही हो सकती। फिर छोटी कविताओं मे प्रतीक-सयोजन कर उनकी सप्रेपणीयता को कितना अक्षुण्ण रखा जा सकता है यह भी विचारणीय है

दीख नही पडते है अश्वारोही लेकिन
सुन पडती है टाप ;
—झेल रहा हूं शाप

ऐसी छोटी कविताओ से कुछ भी पाना कठिन है। अतिम चार शब्द पहली दो पक्तियों से इतने अधिक सदर्भ विच्छिन्न हैं कि आरोपित मालूम होते हैं और इस आरोपण का एकमात्र दोषी 'शाप' तुक का मोह ही प्रतीत होता है। किंतु 'नगर निवासी' :

रोज शाम
सडको पर
फटे
हुए उडते
सुबह के
अखबार

मे शीर्षक, शिल्प, प्रतीक तथा उसके एव भाषा की दृश्यात्मकता के बीच एक सतोषप्रद तादात्म्य है जो इस तरह की छोटी कविता को सार्थकता देता है। खेद का विषय यही है कि 'दिनारभ' की ऐसी कविताए दोना हाथो की अगुलियों पर गिनी जा सकती है।

कविता अच्छी है या नही (आखिर आलोचना का मौलिक उद्देश्य यह बताना नहीं तो और क्या है) इसकी एक कसौटी उसे जोर से पढना है। एक अच्छी

रचना, उसके शब्द कितने भी क्लिष्ट क्यों न हो, पढने में 'सपाट' होती है। मुक्तिबोध की कविताए इसका उदाहरण हैं। इसके विपरीत, एक खराब कविता, जिसमे तथाकथित सपाटबयानी कितनी भी हो, जबान पर लडखडा जाती है

वह एक उठे हुए पाल की तरह मुझे
चीरती हुई चली जा रही है···
हाय ! मैं हू आकाश
मैं कैसे सिमटू, मैं कैसे बाघू,
वह मुझमे से होकर चली जा रही है

ये पक्तिया अटपटी इसलिए है कि इनके शिल्प तथा व्यवस्था असतुलित है। जो कहा जा रहा है वह भी मामूली है। इसके विपरीत 'दिनारभ' :

शहरो मे छतो मे
ह—ल—च—ल
हुई
मक्खिया
बैठ गयी
म—ड—रा
अपनी-अपनी
मेजो पर

एक पूरी कविता है जिसे दो सशक्त एव 'सजेस्टिव' शब्दो—'मक्खिया', 'मेजो'—ने गहरे अर्थ दिए हैं।

श्रीकात की कविताओ पर एक आरोप दुहराव का भी लगाया जा सकता है। इन दो कविताओ मे क्या फर्क है

१. छायाए
न हिलती, न डुलती, न मिलती
एक दूसरे की उदासी मे घुलती
केवल
खडी हैं

२ स्याही के धब्बे सोचते खडे हैं

दोनो कविताओ मे खडे होने का दुहराव अभिव्यक्ति के असामर्थ्य की ओर सकेत करता है। एक प्रश्न यह भी है कि जब छायाए 'न हिलती, न डुलती, न मिलती' हैं तो 'एक दूसरे की उदासी मे घुलती' किस तरह हैं।

दुहराव कई स्थलो पर है—'स्मारक' मे कवि अपनी पीठ पर 'पत्थर-सा ससार ढोता' है और 'टूटी पडी है परपरा' मे उसे लगता है 'कधो पर मेरे ज्यो सहसा रख दी हो किसी ने वसुधरा', 'पतझर' मे स्त्री 'घबराकर ढूढती है सारा दिन किसी परित्यक्त को' और फिर 'एक स्त्री का कायाकल्प' म वही स्त्री 'घबरायी हुई ढूढ रही है, सडक पार करने के लिए सग' (हम पुन अदाज लगा सकते है—'किसी परित्यक्त का' ।) यह दुहराव कोई 'मोटिफ' या प्रतीकात्मक दुहराव नही है, कवि की अजागरूकता का उदाहरण है।

छोटी कविताओ मे तुक की उपादेयता क्या है ? व्यक्तिगत रूप से हिंदी कविता मे अब मुझे तुक वैसे ही लगते है जैसे रेडियो पर गीतो के बीच कमर्शियल्स। लबी कविता मे तुक के निवाह मे कई मार्ग हैं और एक सजग कवि उन्ह औचित्य भी दे सकता है, किंतु छोटी कविताओ मे तुक एक घातक दुर्निवारिता से आता है और मैं नही समझता कि वह किसी भी तरह कविता के आनद को बढाता है। दरअसल तुक का शिकार कवि अपने पाठक को भी तुक का शिकार बनाता है क्योकि पाठक की आदत हो जाती है कि वह तुक की तलाश म रहे। शेक्सपियर के पास तुको की कमी न थी किंतु कोई कारण रहा होगा कि उसने अपने नाटक ब्लेक वर्स म लिखे। मैं यह नही कहता कि तुकहीनता कविता की अनिवार्य शर्त है किंतु मैं यह भी नही मानता कि आरोपित तुकबद्धता कविता का निर्माण कर सकती है।

श्रीकात सरीखा जागरूक कवि अपनी कविताआ के इन दोषो से अनभिज्ञ होगा—यह मानने को जी नही करता। तब प्रश्न उठता है कि इतनी सारी प्रयोजनहीन छोटी कविताए इस सग्रह मे क्यो ? यदि कवि का आशय यह था कि वह पाठको को बताए कि छोटी कविताओ मे भी उसे प्रावीण्य प्राप्त है तो दुख के साथ कहना होगा कि उसके इस उद्देश्य को रचनाओ का सहारा प्राप्त नही हो सका। वैसे इन कविताओ मे समर्थ पक्तियो की कमी नही, किंतु एक या दो पक्तियो से ही कविता हो सकती तो कवि-कर्म कितना आसान होता। छोटी कविताए यदि कविताए नही बन पाती तो ईसप की कहानियो मे अतिम वाक्य की तरह नीतिवाक्य या क्लिशे हो जाती हैं।

छोटी कविताए 'माया दर्पण' मे भी हैं किंतु उसमे अच्छी कविताओ की सख्या 'दिनारभ' के अनुपात म ज्यादा है। दरअसल इन दोनो सग्रहो की कविताए पढने के बाद मुझे यह लगा कि श्रीकात ने अपनी रचनाओं का आलोचनात्मक विभाजन करते हुए बेहतर कविताआ को 'माया दर्पण' मे तथा बची हुई कविताआ को 'दिनारभ' मे समाविष्ट किया है। 'बची हुई कविताओ' से मेरा तात्पर्य क्या है यह स्पष्ट ही होगा। यहा पर पुन कवि-कर्म के एक गभीर दायित्व का जिक्र किया जा सकता है। यह सच है कि प्रत्येक कवि को अपनी

रचनाओ से मोह होता है और वह चाहता है कि वे प्रकाशित रूप मे स्थायित्व प्राप्त करें। प्राय सभी कवि अपनी हल्की रचनाओ को फाड फेंकते है या उन्हे रूपातरित कर देते हैं या उनके 'फ्रैग्मैंट्स' को किसी लबी कविता मे शामिल कर लेते हैं। प्रत्येक कवि हर समय ऐसा नही लिखता जो 'साहित्य' भी हो तथा प्रकाश्य भी। हर प्रकाशित पक्ति साहित्य नही होती, बल्कि सच्चाई यह है कि हर युग मे अधिकाश साहित्य 'पेरिफेरी' का साहित्य होता है जो सिर्फ छपता चला जाता है। सृजनात्मक प्रतिभा कभी-भी समान रूप से प्रखर नही होती और कवि चाहकर भी प्रत्येक रचना को 'फर्स्ट रेट' नही बना सकता। प्रत्येक कवि जानता है, यदि वह सचमुच कवि है तो, कि उसके कृतित्व मे घटिया क्या है और मूल्यवान क्या है। फिर वह अपनी 'ब' 'स' 'ड' स्तरीय रचनाओ को क्यो प्रकाशित देखना चाहता है—शोध-छात्रो के लिए, आलोचक-वर्ग के लिए या साहित्य-इतिहासकारो के लिए? मैं नही समझता कि हिंदी का लेखक इतने उत्तरदायित्व-भाव से लिखता है। घटिया रचनाओ के मोह ने हिंदी की अधिकाश पुस्तको को जन्म दिया है। ऐसे कवि, उपन्यासकार तथा कहानी-लेखक जिन्हें वर्षों पहले अवकाश प्राप्त कर लेना चाहिए था हर वर्ष अपने दिमाग का कचरा हिंदी के चौरस्ते पर फेंक आते हैं। श्रीकात वर्मा हिंदी के इने-गिने कवियो मे से है जिनकी प्रतिभा से लोग खौफ खाते हैं किंतु 'दिनारभ' की कविताओं के चयन मे उन्होने स्वय के प्रति उस निर्ममता का परिचय नही दिया है जिससे वे अन्य कवियो की रचनाओ को कसते हैं।

'एक मुर्दे का बयान' 'दिनारभ' की उल्लेखनीय लबी कविताओ म है। कवि का मूड खीझ, आत्मालोचन तथा रोष का है और कहा जा सकता है कि यह कविता श्रीकात के अपने त्रास को ही नही वरन् समूचे कवि-कर्म की रेगिस्तानी छटपटाहट को व्यक्त करती है। आज की कविता की एक बडी पहचान, या कहा जाए कि एकमात्र पहचान, यही है कि वह 'कविता' की निस्सारता को निर्ममतापूर्वक समझ चुकी है। बीसवी सदी के साठवें वर्ष के बाद कवि जान गया है कि

> न मेरी कविताए हैं न मेरे पाठक है/न मेरा अधिकार है/यहा तक कि मेरी सिगरेटें भी नही है।

'कविताए', पाठक' और 'अधिकार' के बाद सिगरेटो का जिक्र स्थिति के व्यग्य को गहरा करता है तथा उसे एक सामाजिक आयाम देता है। बाहर की स्थितियो पर घूमती हुई यह *व्यग्य-दृष्टि अब स्वय कवि पर टिकती है :*

> मैं एक साथ ही मुर्दा भी हू और ऊदबिलाव भी/मैं एक बासी दुनिया की मिट्टी मे/दबा हुआ/अपने को खोद रहा हू।

यही व्यग्य-दृष्टि और पैनी, और अधिक निर्मम होती चली जाती है :

मैं एक बिल्ली की शक्ल मे छिपा हुआ चूहा हू/औरो को टोहता हुआ/
अपने से डरा हुआ बैठा हूं।

अतिम तीन पक्तिया मृत्यु-लेख की तरह कविता का समापन करती है और किसी भी भारतीय बुद्धिजीवी की समाधि पर चस्पा की जा सकती हैं

मैं एक गलत बीवी का नैपोलियन या/मैं एक/गलत जनता का शहीद था।

'दिगारभ' की कविताए एक 'मिक्स्ड फेयर' हैं और जहा पाठक एक कविता से कुछ प्राप्त करता है वहा दूसरी कविता उसे निराश करती है। 'युद्ध और शिल्प' की पहली पक्ति भौंचक्का कर देती है

किसी भी देश की जमीन पर, पीठ पर पडा अपनी काकरोच

सपाटबयानी का अर्थ यदि केवल सपाट शब्द चुनना ही है तो किसी को इस पक्ति से शिकायत नही होगी किंतु मैं नही समझता कि सपाटबयानी का अर्थ इतना सकुचित है या सपाटबयानी इतनी सहज है। यहा पर अर्थ की कोई कठिनाई न होते हुए भी शब्द क्रम ने एक हास्यास्पद दुरुहता पैदा कर दी है, किंतु इस कविता में मुझे एक और गभीर दोष दिखाई देता है। पहली तेईस पक्तियो तक तो कवि 'मजे में', 'बेफिक्र' पडे हुए 'काकरोच' का बयान करता है जिसे 'युद्ध का डर नही है' और जो 'अपनी बेखबरी की बजर जमीन पर' लेटा हुआ है। यहा तक बात बहुत सीधी और स्पष्ट है और हम व्यग्य को व्यग्य के रूप मे ग्रहण करते हैं लेकिन

दुनिया की विलपें अभी खत्म नही हुई हैं/कि दुनिया की सुदरिया/झुककर/
काकरोच के समीप/कहे/बिना काकरोच के गुजर नही।

पक्तियो से कविता का सिलसिला ही नही टूटता, व्यग्य भी टूट जाता है और वह शुद्ध भर्त्सना बन जाता है।

'पटकथा' की तीन पक्तियो के सहारे श्रीकात के शिल्प पर कुछ कहा जा सकता है

यह हाथ बढाता है और पाता है
पसीने से चिपचिपायी हुई चोली है।
वह घबराकर किसी और का हाथ पकड लेता है।

इन पक्तियो मे 'वह' कवि का पर्सोना (persona) है यह मानने मे कोई आपत्ति नही हो सकती, किंतु इन पक्तियो को छोड सारी कविता में कवि ने persona के लिए 'मैं', 'मैंने', 'मुझे', 'मेरे' का प्रयोग किया है। फिर इन

पंक्तियो मे अन्यपुरुष एकवचन का उपयोग क्यो ? उत्तर हमे कवि के तुक-आयोजन मे मिलता है। यदि 'मैं' का प्रयोग किया जाता तो इस तरह की पंक्तिया होती

एक जेब मे घडी
दूसरी मे फासी लगाने के लिए कमद है
सुविधा के लिए नीद की गोली है।
मैं हाथ बढाता हू और पाता हू
पसीने से चिपचिपाती हुई चोली।
मैं घबराकर किसी और का हाथ पकड लेता हू।
यह एक दूसरी तरह का ससार है
एक ठेकेदार जिसका नेता है।

श्रीकात ने पाया होगा कि 'मैं' का प्रयोग करने से आगे तुको मे कठिनाई होगी, अतएव कविता की 'यूनिटी' को ताला-ए-ताक रखकर 'मैं' का 'वह' मे परिवर्तन कर लिया गया। एक दिलचस्प चीज यह भी है कि बद' के तुक-निर्वाह के लिए 'फासी लगाने क लिए' 'रस्सी' नही, 'कमद' लानी पडी। 'मैं' और 'वह' के बीच चुनाव की समस्या 'ढग' मे भी है।

'ढग' विरलता से सघनता की ओर जाने वाली रचना है किंतु प्रारभ की बहुत-सारी पक्तिया कविता को वह दिशा देती प्रतीत नही होती जिस पर वह अत म पहुचती है। पैंतालीसवी पक्ति के बाद उसमे एक निश्चयात्मकता आती है बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि एक ऐसा मोड आता है कि लगता है कोई दूसरी कविता प्रारभ हो गयी है। अतिम पक्तिया.

वक्त/चला जाता है/वक्त/चला गया है/हर
जगह हाजिर था मैं/लेकिन/दस्तखत कही नही/
शहर के बीच से नदी गुजरती है/शहर क बीच से
सैनिक गुजरते हैं/शहर के बीच से बदी गुजरते हैं/
शहर वही है जो पहले था—जानता है/जुल्म।

सिद्ध करती हैं कि श्रीकात भाषा और अभिव्यक्ति की उस सहजता तथा इकॉनॉमी तक सफलतापूर्वक पहुच सकते हैं जिनके लिए अपनी कविता मे वे लगातार कोशिश करते रहे हैं।

'माया दर्पण' मे जो दूसरे सग्रह को शीर्षक देती है, 'ढग' का मूड विस्तार पाता है।

मैं अनुभव कर रहा हू सब कुछ/बस छूकर/चला
जाता है/छला जाता है/आकाश भी/सूर्य से/जो

दूसरे दिन/आता नही है/कोई और सूर्य भेज
देता है।

भाषा तथा अभिव्यक्ति के जिस सारल्य की चर्चा हो चुकी है वह यहा भी दृष्टिगोचर है -

मैं हरेक नदी के साथ/सो रहा हू/मैं हरेक पहाड/
ढो रहा हू/मैं सुखी/हो रहा हू/मैं दुखी/हो रहा
हू/मैं सुखी-दुखी होकर/दुखी-सुखी/हो रहा हूं।

अन्य रचनाओं के अलावा 'माया दर्पण' की दो महत्त्वपूर्ण रचनाए हैं 'दिनचर्या' तथा 'दूसरे का डर'। इसी सग्रह की एक अन्य कविता 'दिनारभ' 'दिनचर्या' के बहुत निकट है और उसी का विस्तृत अश लगती है। सच्चाई यह है कि श्रीकात की कविताओ मे कुछ स्थूल पैटर्न देखे जा सकते हैं और उनके अतर्गत अधिकाश रचनाओ का वर्ग-विभाजन सभव है। यह तो विषयातर हुआ—'दिनचर्या' का आश्रय लेकर कवि के शिल्प, कविता की 'विजुअल' अपील तथा शिल्पोचित अभिव्यक्ति पर कुछ कहना है। अच्छी कविता की एक पहचान यह भी है कि क्या उसमे कोई दृष्टिगत सौंदर्य है जो उसकी विषय-वस्तु से चित्रनुमा ढग से जुडा हुआ है। पाश्चात्य सौलिड पोएट्री इसी दृष्टिगत तथा काव्यगत सौंदर्य को एकाकार करने की कोशिश थी जिसकी भोडी देसी नकल हिंदी की दिवगत ठोस कविता मे दीख पडी थी। सायास चित्र प्रस्तुत करने के प्रयत्न मे कवि के पास एक चालाक शिल्प ही बच रहता है और कविता दम तोड चुकी होती है। 'दिनचर्या' उन बहुत थोडी कविताओ मे है जिनमे शिल्प का सफल निर्वाह चित्रकारी के लिए तो हुआ ही है, जीवन भी अक्षुण्ण रहा है। पहली पक्ति से ही कविता तथा चित्र साफ-साफ उभरते हैं·

एक अदृश्य टाइपराइटर पर साफ-सुथरे
कागज-सा
चढता हुआ दिन,
तेजी से छपते मकान,
घर, मनुष्य
और पूछ हिला
गली से बाहर आता
कोई कुत्ता।

इस पूरी कविता की रवानी टाइपराइटर पर किसी मजमून के छपते चले जाने की विलक्षण वास्तविकता से न केवल हमारी आखो पर, बल्कि कानो मे

भी उतारती चली जाती है। एक और पंक्ति द्रष्टव्य है :

जलाशय पर अचानक छप जाता है मछुए का जाल

यहा एक शब्द 'छप' न केवल छपने की किया अभिव्यक्त करता है बल्कि जल पर जाल के छप से गिरने की ध्वनि भी उत्पन्न करता है और इस तरह सुखद *अर्थ-स्तरो को सुझाता है। अतिम पंक्ति :*

एक चिड़चिड़ा बूढा थका क्लर्क ऊबकर छपे हुए शहर को छोड़कर चला जाता है।

टाइपिस्ट की अतिम लबा वाक्य शीघ्र टाइप करने की व्यग्रता, उससे उत्पन्न मशीनी संगीत तथा अतिम चार शब्द एक पत्र पूरा हो जाने के बाद के मौन को अत्यत विश्वसनीय तरीके से प्रतिध्वनित करते है 'एक चिड़चिड़ा बूढा थका क्लर्क' जो वह है उसके अलावा सूर्य भी हो सकता है और यह प्रतीक-सभावना रोमाचकारी है।

व्यग्य (आयरनी के अर्थ मे) की चरम सीमा कवि की अपनी 'डुएलिटी' के अहसास मे है और इस बात मे कि वह किस तरह स्वय को देखकर मुह *चिढाता है। अधिकाश हिंदी साहित्य तथा हिंदी साहित्यकार भौतिक रूप से* द्वि-आयामी हैं और व्यक्तित्व की द्वैधता की अनुभूति अत्यत विरल है। इस दृष्टि से श्रीकात की रचना 'दूसरे का डर' द्रष्टव्य है·

कोई मेरे साथ/कपड़े/बदल रहा है/कोई मेरे पैरो/चल रहा है

× × ×

कोई मेरी घड़ी को/अपनी कलाई मे/महसूस/कर रहा है/बुजदिल ! दिखाई नही देता/मेरे आस-पास/कही छुपा हुआ/मुझसे/डर रहा है।

इन पंक्तियो मे एक मद्र हॉरर है तथा अतिम पंक्तियो मे स्पष्ट है कि जिसे बुजदिल कहा जा रहा है वह न तो कायर है और न कही छिपा हुआ 'मुझसे डर रहा है।' दरअसल हम सारे बुजदिल 'उससे' डरकर कही अपने भीतर छिपे हुए हैं।

एलियट की प्रसिद्धतम रचनाओ मे 'द लव साग ऑव जे० अल्फ्रेड प्रूफॉक' है जिसे मैं श्रीकात की रचना 'एक दिन' के समानातर रखना चाहूगा। दोनो की थीम तथा अभिव्यक्ति मे आश्चर्यजनक साम्य है :

स्त्रिया जो प्रेमिका नही थी न वेश्याए / बिस्तर पर / साप की तरह / दूसरे सवेरे घुल जाती हैं।

× × ×

केवल एक स्त्री की साडी की गंध

× × ×

मैं बूढा हो गया।

× × ×

किसको पुकारूंगा ?
सारा दिन कैसे गुजारूंगा ?

× × ×

क्या मैं अपने गुजरे जीवन को/एक कागज पर लिखी हुई/कविता की तरह/दूसरे कागज पर उतारूंगा ? क्या मैं यह सोचूंगा/कि यदि मैंने उस पर शासन भी/किया होता/तो वह नही जाती ! और क्या मैं फिर शासन के लिए एक शासक का चेहरा/(जिसे उसने किसी और से उधार लिया था)/जाकर उधार लाऊंगा ?

मैं अपनी दो टांगो पर/टंगा हुआ/गट्ठर हो गया/हूं

× × ×

In the room the women come and go
Talking of Michelangelo

× × ×

Is it perfume from a dress
That makes me so digress ?

× × ×

I grow old.. I grow old ..
I shall wear the bottom of my trousers rolled
Shall I part my hair behind ? Do I dare to eat a peach ?

× × ×

And indeed there will be time
To wonder, 'Do I dare ?' and, 'Do I dare ?'

× × ×

When I am pinned and wriggling on the wall,
Then how should I begin
To spit out all the butt-ends of my days and ways ?
And how should I presume ?

× × ×

Should I, after tea and cakes and ices,

Have the strength to force the moment to its crisis ?

× × ×

(They will say, 'But how his arms and legs are thin !')

इन समानधर्मा पक्तियो को उद्धृत कर मैं केवल यह कहना चाहता हू कि जिस खोखलेपन तथा भयावहता की तीव्रानुभूति १६१७ के आस-पास पाश्चात्य कविता मे अभिव्यक्ति पा रही थी उस तक तथा उसकी अभिव्यक्ति तक हिंदी अब पहुच पाई है। और स्मरण रहे कि हम अभी सिर्फ पहुचे ही हैं, पीछे नही छोड पाए हैं। हिंदी कविता के मुहावरे पर अग्रेजी का कितना प्रभाव है यह भी इन उद्धरणो से स्पष्ट है।

प्रत्येक काव्य-सग्रह की कविताओ को दो हिस्सो मे विभक्त किया जा सकता है और ये विभाजन कवि-व्यक्तित्व के होते हैं। हर रचनाकार दो स्तरो पर जीता है, एक होता है सामान्य रचना का और दूसरा होता है उसके व्यक्तित्व का वह पहलू जो सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक दबावो मे कुछ सोचता है, महसूस करता है और कुछ कहना चाहता है। सामान्य रचना एक सीमित अर्थ मे अनाम होती है। लिरिक तथा वर्णनात्मक कविता को हम शिल्पगत चिह्नो से भले ही पहचान लें, उसमे एक सामान्यता होती है जो हम कवि का नाम जानने के लिए बाध्य नही करती। लेकिन हर्ष का विषय है कि प्रत्येक अच्छा कवि पारपरीण अर्थों मे कवि नही होता और सदैव पारपरीण कविता न लिखता हुआ कुछ और भी होना लिखना चाहता है। किसी भी कवि की प्रतिनिधि रचनाए वे नही है जिनमे उसने पारपरीण अनुभूतिया को कुछ अधिक अच्छे ढग से लिखा है बल्कि वे हैं जिनमे वह अपनी मान्यताए, प्रतिक्रियाए, अपने हस्ताक्षर तथा अपनी विजय और पराजयो को छोड आया है। पिछले कितने ही वर्षों की कविताए उठा लीजिए, वही जीवित है जिनमे कवि ने स्वय के विषय मे कहते हुए सबके विषय मे कुछ कहा है। सामान्य रचना के पीछे अभ्यास, स्मरण-शक्ति शिल्प की सतही पकड (तथा व्यावसायिकता का भी) योगदान होता है और हिंदी मे इसका सबसे बडा उदाहरण मैथिलीशरण गुप्त है। पिछले पच्चीस वर्षों मे हिंदी कविता सामान्य रचना से उत्तरोत्तर विमुख हुई है और व्यक्तित्व वैशिष्ट्य की ओर द्रुतगति से बढी है। 'माया/दर्पण' मे कम-से-कम नौ ऐसी कविताए है जिन्हें हम 'श्रीकान्त वर्मा की कविता' कह सकते है, शेष को 'श्रीकात वर्मा के समय मे लिखी जा रही कविताओ के समान श्रीकान्त वर्मा की कविताए' कहा जा सकता है। वे कविताए है 'घर-धाम', 'नकली कवियो की वसुधरा', 'दुनिया नामक बेवा का शोकगीत', 'हेर-फेर', 'प्रेस वक्तव्य', 'दो टूक रास्ता', 'बुखार मे कविता', 'अतिम वक्तव्य' तथा 'समाधि लेख'।

आश्चर्य का विषय है कि आलोचना मे सदैव व्यक्तित्व को एक ठहरी हुई, तर्कबद्ध या शाश्वत वस्तु मान लिया जाता है और फिर इस 'फॅलेसी' के सहारे कवि पर या तो अजीबो गरीब आरोप लगाए जाते है या भ्रात प्रशसा की जाती है। मनुष्य न रॉबट है और न कम्प्यूटर, वह पुच्छलतारा भी नही है कि उसके आचार-व्यवहार मे कोई गणित खोजा जा सके। आदमियो की वह नस्ल जिसे कवि कहा जाता है प्रारभ से ही अविश्वसनीय तथा तर्क से परे मानी गई है किंतु सारे कवि अलग-अलग किन्ही मूल्यो के एक स्तर तक पहुचते है और कमोबेश वे उनकी कविताओ मे एक अनुपात मे परिलक्षित होते है। यह भी ध्यान रहे कि कवि महान्, सवेदनशील सरलहृदय, दयालु होने के साथ-साथ लफगे, शरारती, विदूषक और धोखेबाज भी होते हैं (आखिर वे भी आदमी हैं) और इसलिए कवि के वक्तव्य को 'फेस वैल्यू' पर ग्रहण करना अपने विवेक को जोखिम मे डालना है। 'घर-धाम' कविता अपनी प्रथम नौ आवश्यक पक्तियो के बावजूद भी पठनीय है

मैं अब घर जाना चाहता हू/मैं जगलो/पहाडो मे/खो जाना चाहता हू।

× × ×

मैं जीना चाहता हू/और जीवन को/भासमान/करना चाहता हू।

× × ×

मैं विवाह करना चाहता हू/और/उसे प्यार/करना चाहता हू/मैं उसका पति,/उसका प्रेमी/और/उसका सर्वस्व/उसे देना चाहता हू/और/उसकी गोद/भरना चाहता हू।

मैंने ऊपर इन पक्तियो को 'पठनीय' कहा है क्योकि ये खतरनाक पक्तिया हैं। कविता मे मानवीय सवेदना खोजना एक अच्छी बात है और किसी कवि के कृतित्व मे यदि वह पायी जाए तो और भी अच्छी बात है लेकिन एक पक्ति अथवा एक कविता का कमजोर आश्रय लेकर एक कवि को वह सिद्ध करना जो वह नही है एक ऐसा व्यवसाय है जिसमे सबसे ज्यादा घाटा आलोचक को ही उठाना पडता है। उपर्युक्त पक्तियो से यह सिद्ध किया जा सकता है कि श्रीकात शोरशराबे से तग आ चुके हैं, वे कस्बे लौट जाना चाहते हैं, उनकी कविता महानगर से करुणा की ओर रवाना हो चुकी है, वे मृदु मानव-सबधो के कवि हैं, उनमे जिजीविषा है, उनका काव्य मानव-मूल्यो का काव्य है, आदि, आदि। मैं यह मानता हू कि इन पक्तियो से श्रीकात के काव्य-चिंतन के विषय मे कुछ जाना जा सकता है किंतु इसे स्वीकार करना कठिन है कि यह और ऐसी कविताए श्रीकात की प्रतिनिधि कविताए हैं। हिंदी कविता म आज ऐसी स्थिति आ गई है कि प्रेम, आत्मदया, सहानुभूति वगैरह कवि को एक

अस्थायी पलायन दे सकते है, जब वह इनसे लौटकर आता है तो उसके समक्ष तथा उसकी कविता मे विद्रूप, व्यग्य, प्रहार, क्रूरता, सेडिज्म, भर्त्सना ही होते हैं क्योकि आज के वेल्टश्मर्त्स के वाद और बचता भी क्या है। वैसे तो पैडोरा का बक्स खुलने के बाद अत मे आशा भी निकली थी। श्रीकात की जिन नौ महत्त्वपूर्ण कविताओ का जिक्र मैंने ऊपर किया है उनमे 'घर-धाम' मैंने इसलिए शामिल की है क्योकि वह अतर्भूत करुणा की एकमात्र कविता है और अन्य आठ मे कवि का मूड इस तरह है :

टाग दो शो-विडो मे/दागो से भरा/पिटीकोट

× × ×

क्या मैं पड़ा रहू अपनी स्त्री की जाघ की/दराज मे ?

× × ×

बरस रहा है अधकार ! /मगर उल्लू के पट्ठे ! /स्त्रिया रिझाऊ कविताए/ लिख रहे है।

× × ×

यह मेरा सवाल नही है/बल्कि/उत्तर है /'मैं क्या कर सकता हू !'

× × ×

मैं गौर से सुन सकता हू/औरो के रोने को/मगर दूसरे के दुःख को/अपना मानने की बहुत/कोशिश की, नही हुआ !

× × ×

सारे शहर की/वेश्याओ पर/सूरज/सवार था।

इन पक्तियो की तल्खी और तुर्शी अन्य कविताओ की तमाम करुणा को व्यर्थ, बेमायना तथा पीलियाग्रस्त बना देती है। अपने सारे 'लिरिसिज्म' तथा एकात सवेदनशीलता के बावजूद श्रीकात एक गहन तथा दुर्द्धर्ष कवि है और उनकी प्रतिभा पर कोई भी लेबल लगाना अभी न तो उचित है न बुद्धिमत्तापूर्ण। हा, यह साफ है कि अपनी उन कविताओ मे जहा उनकी 'क्रीडो' सुनिश्चित रूप से व्यक्त हुई है, वे भावुक, करुण, 'सॉफिस्टिकेटेड' नही हैं बल्कि निर्मम, क्रूर तथा जर्राह-सरीखे है। श्रीकात को यह भी परवाह नही है कि समाज, व्यवस्था तथा आलोचक उनकी कविता के विषय में क्या सोचते-समझते-कहते हैं

सारे ससार की/सडक पर/दो-टूक कवि/पेशाब करता/हुआ/चला/गया है।

वर्तमान व्यवस्था इस हास्यास्पदता तक पहुच गई है कि कवि उसका 'उद्धार' करने को तनिक भी उत्सुक नही है, बल्कि उसका आक्रोश उसे एक भयावह सैंस ऑव ह्यूमर देता है जो स्विफ्ट तथा सर्वांतीस के बहुत निकट है :

इस सारे क्रम का/मैं क्या करू ?/क्या उल्लुओ की जगह/इस रथ मे जोत
दू/दो कुत्ते ?
क्या बागडोर दे दू/वेश्याओ के/हाथ मे ?

यह इसलिए कि वह इतिहास के छल-प्रपच को खूब समझ चुका है और जानता है कि सत्ता-परिवर्तन, इन्कलाब के वादो तथा जनतात्रिक समाजवाद के नारो मे एक साजिश छिपी हुई है

कुछ लोग मूर्तिया बनाकर
फिर
बेचेंगे क्राति की (अथवा
षड्यन्त्र की)
कुछ और लोग
सारा समय
कसम खाएगे
लोकतन्त्र की।

श्रीकात के लिए तथा हमारी समूची पीढी के लिए अब देश, देश-भक्ति, राष्ट्रीयता, नागरिकता सरीखे शब्द न केवल अर्थहीन बल्कि भयावह तथा हास्यास्पद हो गए हैं क्योकि इन्ही का प्रयोग करते हुए हम सबको धोखा दिया गया है। कवि के लिए केवल धर्म ही नही, देश भी अफीम है और इसलिए जब देश तथा कविता के बीच चुनाव का प्रश्न आता है तब वह प्रहार करता है

मूर्खो! देश को खोकर ही
मैंने प्राप्त की थी
यह कविता॰ ॰

कवि क्या कर सकता है? इस देश तथा इस व्यवस्था की शिराओ तथा कोशिकाओ के अतिम छोरा तक सडन पैठ चुकी है जिसे सैकडो भूदान, हजारो सदाचार समितिया तथा लाखो 'एटी-करप्शन ब्यूरोज' नही निकाल पाएंगे। कैसर के मरीज की एक ऐसी हालत हो जाती है जिसमे यह नही कहा जा सकता कि वह तीन घटे जीवित रहगा अथवा तीन वर्ष, और ऐसी दशा म सिर्फ एक प्रतीक्षा ही की जा सकती है

मैं टकटकी लगाए
देख रहा हू
कैसे गिरती है इमारत
धरती के कपने से

मैं यह सिद्ध नही करना चाहता कि श्रीकात का स्वर देश-द्रोही तथा मानव-द्रोही है, यदि होता भी तो इसकी चिंता न कवि को होनी चाहिए, न आलोचक को, मैं केवल यह कहना चाहता हू कि श्रीकात की कविता मे वर्तमान का गहरा 'अवेयरनेस' है और इस देश मे प्रत्येक सोचने वाला या तो पलायनवादी हो जाता है या आक्रामक—और पहला तरीका बहुत आसान है—इसीलिए श्रीकात आक्रमण करते हैं।

इस सबके बाद श्रीकात की कविता की दिशा के विषय मे क्या किसी परिणाम पर पहुचना सभव है ? 'दिनारभ' तथा 'माया दर्पण' की एक सौ पद्रह रचनाए पढने के बाद कोई स्पष्ट पैटर्न उभरता है यह कहना कठिन है। छोटी कविताओ मे उनकी अभिव्यक्ति स्निग्ध तथा आत्मकथ्यात्मक है जबकि लबी कविताओ के कैन्वस विस्तृत हैं और आज की कविता के सारे लक्षण—मोहभग, नाराजगी, घृणा, विद्रोह—उनमे प्राप्त हैं। ऐसी छोटी तथा लबी रचनाओ को एक ही सग्रह मे रखना कन्ट्रास्ट अवश्य पैदा करता है किंतु कन्ट्रास्ट सुखद एव सार्थक तभी होता है जब दोनो पक्ष प्रकृति मे भिन्न होते हुए भी शक्ति मे समतुल्य हो। श्रीकात की छोटी कविताए यदि प्रभाव छोड सकती तो इसलिए नही छोड पाती कि उनके पास ही लबी कविताए हैं जिनका मुहावरा, विषय-वस्तु, ओज तथा स्वर इतने तात्कालिक तथा प्रखर है कि सयत लिरिसिज्म उनके आगे ठहर नही पाता। 'दुनिया नामक वैश्या का शोक-गीत' लिखने वाला कवि 'फुलचुक्की का प्यार' भी लिख सकता है, इसमे कोई आश्चर्य की बात नही, मैं यह प्रश्न भी नही उठाता कि जब वह 'नकली कवियों की वसुधरा' लिखता है तो साथ मे 'सारा-का-सारा सका न पा, सारा-का-सारा सका न दे' क्यो लिखता है, लेकिन कोई वजह होगी कि इनी-गिनी वही कविताए मस्तिष्क मे फसकर रह जाती है जो लबी है, जिनमे उनका नकारात्मक आक्रोश है और जो यह बताती हैं कि अपनी छोटी रचनाओ की गीतात्मकता के बाद भी उनका कवि 'अतिम वक्तव्य' मे यह कहने पर बाध्य होता है :

कोई भी जगह नही रही
रहने के लायक
न मैं आत्महत्या
कर सकता हू
न औरो का खून !

मैं समझता हू कि श्रीकात अभी अपना रास्ता निश्चित नही कर पाए हैं—मेरा अर्थ यहा किसी राजनीतिक या किसी और दर्शन से नही है। उनका कवि दो स्तरो पर रचना कर रहा है और जहा इसमे खतरा है वहा सुविधाए

भी है। साहित्य मे मज्झिम निकाय या 'टाइट रोप वॉकिंग' सभव है या नही, यह मैं नही जानता, किंतु यह अवश्य कहा जा सकता है कि वही साहित्य बचा है जो उभयमुखी नही है। 'कवि' शब्द का पारपरीण अर्थ हिंदी मे इतना गहरा पैठ चुका है कि हम पहले कवि होना चाहते है और बाद मे यदि लिख पाते हैं तो कविता लिखते हैं। श्रीकात कविता लिखते हैं—इसमे सदेह करने का कोई आधार नही है। हा, समय आ गया है कि वे खतरो तथा सुविधाओ के बीच चुनाव कर लें।

अप्रासंगिकता के कगार पर

सुविधा के लिए यह कहना नजरअंदाज कर दिया जाय कि सर्वेश्वरदयाल सक्सेना 'तार-सप्तक' के कवियो के बाद की उस पीढी मे गिने जाते हैं जिसमें श्रीकांत वर्मा, रघुवीर सहाय, कुंवरनारायण, धर्मवीर भारती, विजयदेवनारायण साही, लक्ष्मीकांत वर्मा, केदारनाथ सिंह आदि शामिल हैं। नामो की इस तालिका से ही स्पष्ट हो जाएगा कि यह पीढी-विभाजन सिर्फ समयगत है—यह नही कहा जा सकता कि ये तमाम लोग एक ही तरह की कविताएं लिख रहे थे या लिख रहे हैं। इन नामो मे से भारती और कुंवरनारायण ने कुछ ज्ञात-अज्ञात कारणोवश कविताए लिखना (या कम-से-कम उन्हे प्रकाशित करवाना) करीब-करीब छोड रखा है—साही की भी कोई रचना एक अरसे से दीख नही पडी। लक्ष्मीकांत वर्मा का इस पीढी मे न्यूनाधिक वही स्थान है जो आज गिरिजाकुमार माथुर का है। केदारनाथ सिंह इस पीढी के शमशेर हैं—सभी इस बात पर सहमत हैं कि "वे अच्छे कवि हैं लेकिन···"। इस प्रकार इनमें से ले-देकर वही तीन पात बच रहते हैं जो लगातार लिख रहे हैं—श्रीकांत वर्मा, रघुवीर सहाय और सर्वेश्वरदयाल सक्सेना।

किंतु पिछले सात वर्षों मे तीन संग्रह प्रकाशित करवाने के बाद भी क्या वजह है कि सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की आज वह तस्वीर नही उभरती जैसी—मैं तुलना नही कर रहा हू—श्रीकांत वर्मा या धूमिल की है? मेरा यह अर्थ नहीं है कि मैं उनसे उनके किसी समसामयिक अथवा उनसे कनिष्ठ कवि की तरह की रचनाए चाहता हू। प्रत्येक पाठक यह चाहता है कि किसी भी कवि की रचनाए पढने के बाद वह न केवल यह कह सके कि वे अच्छी कविताए हैं बल्कि यह भी कि वे दूसरे कवियो की रचनाओ से अलग अच्छी कविताए हैं। काव्य स्फीति के इस युग मे सिर्फ अच्छी कविताए लिखना ही काफी नही

रह गया है—जिसके पास कुछ अपना कहने को नही रह गया है उसे अब कविता लिखने की जहमत नही उठाना चाहिए—'कॉमनप्लेस' तो सभी बढ़िया लिख रहे हैं।

सर्वेश्वर कवि-रूप मे चर्चित न हुए हो, ऐसी बात नही। जिस जमाने मे उनके प्रारंभिक सग्रह प्रकाशित हुए थे ('काठ की घंटिया' की कविताए और 'बास का पुल'), उस समय उनकी कविता की सादगी ने ध्यान अवश्य आकृष्ट किया होगा और जीवन के छोटे-बडे रागात्मक सबधो को अभिव्यक्ति देने की उनकी चेष्टा का स्वागत भी हुआ होगा। छायावाद और प्रगतिवाद की मारी हिंदी कविता को प्रयोगवाद की अतियो से दूर रखने के प्रयास मे नयी कविता वायवीय रूमानियत, विजयवादी मनोरथ तथा सनक से कतराती थी और रोजमर्रा के जीवन और हल्के-फुल्के दर्शन मे कुछ काव्यात्मकता खोजती थी। रूमानियत से पूरी मुक्ति तो कविता मे सभव नही है किंतु नयी कविता आज जितनी रूमानी दिखती है शायद दस बरस पहले उतनी न रही होगी। उस समय की कविता के लिए सर्वेश्वर मे एक खास तरह की कुशलता तो थी ही, वात्स्यायन सरीखी प्रतिभा की देख-रेख मे वह विकसित भी हुई। उन्होने अपने प्रिय कवियो मे सर्वेश्वर को स्वीकार किया और सर्वेश्वर को 'हिंदी कविता के आगामी दस वर्षों के महत्त्वपूर्ण दो स्वरो' मे (दूसरे रघुवीर सहाय थे) रखा। इस कथन मे कोई व्यग्यार्थ न देखा जाय—प्रत्येक बडे कवि को अपने प्रिय कवि के विषय मे कोई भी भविष्यवाणी करने तथा उसे प्रोत्साहन देने का अधिकार है। जरा सोचिए—यदि एज्रा पाउण्ड एलियट को प्रोत्साहित न करता तो विश्व-कविता की क्या दशा होती!

प्रारभिक ख्याति तथा वात्स्यायन सरीखे हितैषी के बावजूद भी यदि सर्वेश्वर की 'गर्म हवाए' की कविता हिंदी काव्य की प्रमुख तथा प्रभविष्णु धारा मे एक बलिष्ठ लहर नही बन पायी तो इसका कारण निस्सदेह उनकी कविता मे ही प्राप्त होगा। स्वय कवि भी कही-न-कही इस बात को पहचानता है कि उसमे कुछ कमी है और यह हीन भाव उससे सात वर्ष पहले ही कहलवा चुका है "मैं अनगढ कवि/धूल मे उदास बैठा/सबकी शिल्प-चातुरी देखता हू" (दस्तकारी की दूकान), "किससे कहू—मेरा मस्तिष्क,/मेरा हृदय,/मेरा व्यक्तित्व,/अब दूसरे गढते हैं—/अर्पित कर दिया है मैंने स्वय को/अब दूसरो की गति को/यदि नही बहता मैं,/तट पर पडा [redacted] मौन,/दोष इसमे किसका है ?" (दर्द यह किससे कहू), "मैं चलता हू/लेकिन रास्ते पर मेरे चरण-चिन्ह नहीं छूटते,/मैं कोई लीक कोई परपरा नही छोडता,/एक सूखा हुआ पत्ता हू" कभी-कभी लगता है/मेरा अस्तित्व ही मेरे लिए चुनौती है,/मैं प्रश्नचिन्हों की बैसाखी लगाकर चल/रहा हू" (कभी-कभी ऐसा लगता है) "उपलब्धि के नाम पर/

अप्रासंगिकता के कगार पर

सुविधा के लिए यह कहना नजरअंदाज कर दिया जाय कि सर्वेश्वरदयाल सक्सेना 'तार-सप्तक' के कवियो के बाद की उस पीढ़ी मे गिने जाते हैं जिसमें श्रीकात वर्मा, रघुवीरसहाय, कुवरनारायण, धर्मवीर भारती, विजयदेव नारायण साही, लक्ष्मीकात वर्मा, केदारनाथ सिंह आदि शामिल हैं। नामो की इस तालिका से ही स्पष्ट हो जाएगा कि यह पीढ़ी-विभाजन सिर्फ समयगत है—यह नही कहा जा सकता कि ये तमाम लोग एक ही तरह की कविताए लिख रहे थे या लिख रहे हैं। इन नामो मे से भारती और कुवरनारायण ने कुछ ज्ञात-अज्ञात कारणोवश कविताए लिखना (या कम-से-कम उन्हे प्रकाशित करवाना) करीब-करीब छोड़ रखा है—साही की भी कोई रचना एक अरसे से दीख नही पड़ी। लक्ष्मीकात वर्मा का इस पीढ़ी मे न्यूनाधिक वही स्थान है जो आज गिरिजाकुमार माथुर का है। केदारनाथ सिंह इस पीढ़ी के शमशेर है—सभी इस बात पर सहमत हैं कि "वे अच्छे कवि हैं लेकिन''''"। इस प्रकार इनमे से ले-देकर वही तीन पात बच रहते हैं जो लगातार लिख रहे है—श्रीकात वर्मा, रघुवीर सहाय और सर्वेश्वरदयाल सक्सेना।

किंतु पिछले सात वर्षों मे तीन सग्रह प्रकाशित करवाने के बाद भी क्या वजह है कि सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की आज वह तस्वीर नही उभरती जैसी—मैं तुलना नही कर रहा हू—श्रीकात वर्मा या धूमिल की है? मेरा यह अर्थ नही है कि मैं उनसे उनके किसी *समसामयिक* अथवा उनसे कनिष्ठ कवि की तरह की रचनाए चाहता हू। प्रत्येक पाठक यह चाहता है कि किसी भी कवि की रचनाए पढने के बाद वह न केवल यह कह सके कि वे अच्छी कविताए है बल्कि यह भी कि वे दूसरे कवियो की रचनाओ से अलग अच्छी कविताए है। काव्य स्फीति के इस युग मे सिर्फ अच्छी कविताए लिखना ही काफी नहीं

रह गया है—जिसके पास कुछ अपना कहने को नही रह गया है उसे अब कविता लिखने की जहमत नही उठाना चाहिए—'कॉमनप्लेस' तो सभी बढ़िया लिख रहे है।

सर्वेश्वर कवि-रूप मे चर्चित न हुए हों, ऐसी बात नही। जिस जमाने मे उनके प्रारंभिक सग्रह प्रकाशित हुए थे ('काठ की घंटिया' की कविताए और 'बास का पुल'), उस समय उनकी कविता की सादगी ने ध्यान अवश्य आकृष्ट किया होगा और जीवन के छोटे-बडे रागात्मक सबधो को अभिव्यक्ति देने की उनकी चेष्टा का स्वागत भी हुआ होगा। छायावाद और प्रगतिवाद की मारी हिंदी कविता को प्रयोगवाद की अतियो से दूर रखने के प्रयास मे नयी कविता वायवीय रूमानियत, विजयवादी मनोरथ तथा सनक से कतराती थी और रोजमर्रा के जीवन और हल्के-फुल्के दर्शन मे कुछ काव्यात्मकता खोजती थी। रूमानियत से पूरी मुक्ति तो कविता मे सभव नही है किंतु नयी कविता आज जितनी रूमानी दिखती है शायद दस बरस पहले उतनी न रही होगी। उस समय की कविता के लिए सर्वेश्वर मे एक खास तरह की कुशलता तो थी ही, वात्स्यायन सरीखी प्रतिभा की देख-रेख मे वह विकसित भी हुई। उन्होने अपने प्रिय कवियो मे सर्वेश्वर को स्वीकार किया और सर्वेश्वर को 'हिंदी कविता के आगामी दस वर्षों के महत्त्वपूर्ण दो स्वरो' मे (दूसरे रघुवीर सहाय थे) रखा। इस कथन मे कोई व्यग्यार्थ न देखा जाय—प्रत्येक बडे कवि को अपने प्रिय कवि के विषय मे कोई भी भविष्यवाणी करने तथा उसे प्रोत्साहन देने का अधिकार है। जरा सोचिए—यदि एज्रा पाउण्ड एलियट को प्रोत्साहित न करता तो विश्व-कविता की क्या दशा होती!

प्रारंभिक ख्याति तथा वात्स्यायन सरीखे हितैषी के बावजूद भी यदि सर्वेश्वर की 'गर्म हवाए' की कविता हिंदी काव्य की प्रमुख तथा प्रभविष्णु धारा म एक बलिष्ठ लहर नही बन पायी तो इसका कारण निस्सदेह उनकी कविता मे ही प्राप्त होगा। स्वय कवि भी कही-न-कही इस बात को पहचानता है कि उसम कुछ कमी है और यह हीन भाव उससे सात वर्ष पहले ही कहलवा चुका है 'मैं अनगढ कवि/धूल म उदास बैठा/सबकी शिल्प-चातुरी देखता हू" (दस्तकारी की दूकान), 'किससे कहू—मेरा मस्तिष्क,/मेरा हृदय,/मेरा व्यक्तित्व,/अब दूसरे गढते है—/अर्पित कर दिया है मैंने स्वय को/अब दूसरा की गति को/यदि नही बहता मैं,/तट पर पडा हू मौन /दोष इसमे किसका है ?" (दर्द यह किससे कहू), "मैं चलता हू/लेकिन रास्ते पर मेरे चरण-चिन्ह नहीं छूटते /मैं कोई लीक कोई परपरा नही छोडता,/एक सूखा हुआ पत्ता हू कभी-कभी लगता है/मेरा अस्तित्व ही मेरे लिए चुनौती है,/मैं प्रश्नचिन्हो की बैसाखी लगाकर चल/रहा हू" (कभी-कभी ऐसा लगता है) "उपलब्धि के नाम पर/

मेरे पास एक झोला है/जो खंडित मूर्तियो से भरा है/ "गहन व्यथा के क्षणो मे/मैं अक्सर इन मूर्तिया से टकराता हू,/और स्वय टूटता हू/विलग हो जाता हू, /किसी जीर्ण शिवाले की तरह ढहता हू,/और अपने अस्तित्व की एक-एक ईंट गिरती देखता हू, /लोग आते हैं/अपने-अपने प्रयोजन से मुझे उठाते है/और मेरे इतिहास को कुचलते चले जाते हैं।" इन पक्तियो के पीछे किसी असफलता के एहसास से उपजी जो रूमानी आत्मदया छिपी हुई है वह असदिग्ध है। 'एक सूनी नाव' की दो रचनाओ म यह भी द्रष्टव्य है। "एक अदृश्य इमारत/मेरे ऊपर गिर पडी है/जो 'नही है' उसके बोझ से/मैं दब गया हू/एक अदृश्य नदी/मुझ पर फैल गयी है/जो 'नही होगा' उसकी धार मे/मैं बह रहा हू/एक अदृश्य सडक/मेरे नीचे से निकल गयी है/जो 'नही था' उसकी चपेट से/मैं कुचल गया हू" (दुर्घटना), एक अतीत शोधता हू मैं/वर्तमान को प्राणदान के लिए/लेकिन एक अनिश्चय ही बढा हुआ पाता हू/ "अपने को दोहराते-दोहराते/अब मैं थक गया हू,/ताश के पत्तो की तरह/कब तक फेंटता रहू विश्वास,/और मक्खियो की तरह/उडाता रहू स्मृतिया,/या भिखारियो की तरह गिनता रहू चन्द सिक्के,/गोया अधिक गिनने से/उनकी सख्या बढ जाएगी।"

सर्वेश्वर के प्रत्येक काव्य सग्रह मे एक कविता तो स्वय पर होती ही है और वह उन्हे समझने मे सहायक सिद्ध होती है। ऊपर दिए गए उद्धरणो के प्रकाश मे उनके चर्चित सग्रह की अतिम कविता **'वसंत के नाम एक खुला पत्र'** की ये पक्तिया भी पठनीय है। "हर छापे मे जुआडियो के खिसक जाने पर/गिरफ्तार होता/और बाद मे दोस्तो से/चतुर न होने पर गालिया खाता" "काम के नाम पर/उसने केवल तुम्हारे रगे हुए/कपडे सुखाये है" 'वह जिनके पीछे तबाह होता है/वही उसकी असफलता को/नगाडे की तरह बजाते हैं, /आज एक भी दोस्त उसका नही है/वह कोयलो की आवाज की नकल करता/वीरानो मे घूमता रहता है/हर एक की गालिया और पत्थर सहता है।" रूमानियत के सबसे गहरे प्रमाण है व्यक्ति का अपन भोलेपन म न कवल विश्वास बल्कि उसे ही अपनी तमाम असफलताओ का कारण होने मे अदम्य आस्था, अपनी 'भलाई' के प्रति आत्मरति, दुनिया की मक्कारी के आगे शहीद होने की मुद्रा और आत्मपीडन। ये सब सर्वेश्वर की इस कविता म विद्यमान हैं और हालाकि इस कविता मे सर्वेश्वर का इरादा अपने इस रूप की हत्या कर देने का है किंतु यह फिर एक रूमानी मुद्रा है।

यह रूमानियत एक दूसरे रूप मे, जो सतोचित शौर्य-प्रदर्शन का है, इस सग्रह की प्रार्थना-कविताओ मे उभरा है "नहीं नही प्रभु तुमसे/शक्ति नही मांगूंगा", "यात्रा के साथी हो हर पल असफलताए/मुझ पर गिरती जाए मेरी ही सीमाए/सुखद दृश्य तेरे हो/भरे नयन मेरे हो", "अपनी दुर्बलता का/मुझको

अभिमान रहे", तथा "वज्र गिराओ जब-जब तुम/मैं खडा रहू यदि सीना ताने, नर्क-अग्नि मे मुझे डाल दो/फिर भी जिऊ स्वर्ग-सुख माने,/मेरे शौर्य और साहस को/करुणामय हो तो सराहिए।" बहुत सभव है कि इन पक्तियो की प्रेरणा किसी दुख मे हो और वह दुख वास्तव मे बडा भी हो, किंतु पारपरीण शक्ति प्रदर्शन की अपरिपक्व इच्छा ने दुख की तिलमिलाहट को व्यक्त होने के पहले ही नष्ट कर दिया है और इसीलिए ये चारो कविताए न केवल उदासीन छोडती हैं बल्कि छद्म होने की प्रतीति भी देती हैं।

प्रत्येक रूमानी कवि की त्रासदी यह होती है कि वह सोचता है कि देने के लिए उसका कच्चा माल ही पर्याप्त है, क्योंकि वह 'भावनाओ की शक्ति' आदि सरीखी चीजो मे विश्वास रखता है। यह 'नाईव' आस्था उससे जिस तरह की कविताए लिखवाती है उसका उदाहरण है इस सग्रह की 'पत्नी की मृत्यु पर'। मृत्यु की भयावहता और उसके बाद का रीतापन असदिग्ध है और एक सवेदनशील व्यक्ति पर नजदीक से देखी गयी प्रत्येक मृत्यु एक शब्दातीत असर छोडती है। इस कविता के पीछे कवि की जो पीडा है उसकी असलियत तथा गहराई मे मुझे जरा भी अविश्वास नही है। किंतु कविता के साथ मुश्किल यह है कि केवल अनुभव की ईमानदारी ही उसमे सब-कुछ नही होती। कच्चे सवेग पर, वह कितना ही प्रामाणिक तथा निकट क्यो न हो, कवि को एक सिमम सयम देना होता है जिससे वह हिस्टीरिया या हडबडी न होकर कलाकृति का रूप ले सके। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की इस कविता की पहली दो पक्तिया इस उद्देश्य का सही निर्वाह नही करती—' बायें हाथ मे ले/अपना कटा हुआ दाहिना हाथ" क्योंकि इनमे स्थिति के दुख का नाटकीकरण ज्यादा है—कला के स्तर पर स्वीकार्य अभिव्यक्ति कम। रूमानी कवि की एक प्रिय युक्ति एक ही चीज को दुहराने की भी होती है इसलिए जब सर्वेश्वर तीसरे चरण मे कहते हैं "एक हार की तरह/मैं रेगिस्तान मे खडा हू" गर्म हवायें सनसनाती हुई/मुझमे से गुजर जाती हैं" तब तक तो ठीक रहता है, किंतु जब अगले चरण मे ही वह "चारो ओर हरहराती है बाढ/कमर तक पानी म/पीठ पर सदक लादे खडा···मैं आदमी से नाव बनता जा रहा हू" कहते है तो इन दोनो के बीच कविता के विकास का तर्क बिठाना मुश्किल हो जाता है। कुछ और आगे जाकर "बायें हाथ मे ले/अपना कटा हुआ दाहिना हाथ/फेंकता हू पत्थर इस सडे-गले समाज पर" का न तो कोई स्थितिगत 'न्याय' है और न काव्यगत। अव्वल तो 'सडा-गला समाज' यह मुहावरा ही हिंदी फिल्मो और आवारा, कुशवाहा सरीखे उपन्यासकारो ने एक सडा-गला 'क्लिशे' बना दिया है और एक जागरूक कवि से ऐसे शब्द समूहो से बचन की उम्मीद की जाती थी, फिर कवि जिस दुख म डूबा हुआ है उसमे 'समाज' का कहा तक हाथ

रहा है इसका कोई अत साक्ष्य कविता मे नही है । कविता की अतिम पाच पक्तिया 'एब्सर्ड' है—"वायें हाथ मे ले/अपना कटा हुआ दाहिना हाथ/उठाता हू मैं इस शिलालेख को/जिस पर शाम बिना पैर धोये/आकर बैठ गई है।" स्मरण रहे कि इसकी पूर्वगामी पक्ति मे कवि स्वय को 'शिलालेख' कह चुका है और बिना पैर धोये आई शाम भी उसी का प्रतीक है। गद्यार्थ होगा "वायें हाथ मे ले अपना कटा हुआ दाहिना हाथ उठाता हू मैं अपने को जिस पर मैं स्वय बैठा हुआ हू ।" यह तो, खैर, अभी जानना बाकी है कि एक हाथ मे अपना कटा हुआ दूसरा हाथ पकड़े हुए कोई चीज (शिलालेख सरीखी वजनी वस्तु की बात तो दूर रही) कैसे उठायी जा सकती है।

हिंदी का कवि चूकि पाठक को सब-कुछ समझाने मे विश्वास रखता है इसलिए अक्सर वह अपनी कविताओ मे दो हिस्से रखता है—एक खुद के लिए और दूसरा भाष्य के लिए। 'सूखा' की पहली उन्नीस पक्तिया कमोबेश मनोप-प्रद हैं, किन्तु उसके आगे 'सूखे' को कही 'सूखा' ही न समझ लिया जाय, इस पाठकवत्सल भय से सर्वेश्वर सारी स्थिति स्पष्ट करते हैं और कविता नष्ट। दरअसल सर्वेश्वर सादा कविताओ के सादा अर्थों के कवि हैं और उनके पास एक निश्चित दूरी तक जाने वाली दृष्टि है। वे स्थितियो और चीजो के द्वि-आयामीय अकन के कवि हैं और जहा उनके सवेग पेचीदा हैं, जैसे कि 'एक आत्मीय की प्रतीक्षा' मे, वे उन्हे कविता मे समेटने मे असफल होते हैं और एक फैंटेसी का रूप देकर, जिस पर मुक्तिबोध का प्रभाव स्पष्ट है (हालाकि विषय मे वह मुक्तिबोध से उतनी ही दूर है जितने स्वय सर्वेश्वर), उसे गति-विधियो के ब्यौरे से भर देते हैं जो "अचानक दरवाजा बद हो गया/और मैं उस हाथ को लिए/कमरे मे गिर पडा/मेरे जोड फिर उखड गए" की हास्या-स्पद अतिनाटकीय गद्यात्मकता को प्राप्त होते हैं।

रूमानी कवि होना पाप नही है, खराब रूमानी कवि या खराब कवि होना भी पाप नही है, सिर्फ विवशता है। किंतु फिर भी रूमानी कवियो पर वर्तमान राजनीतिक सामाजिक दबावो ने असर तो डाला ही है और यह असर शायद सर्वेश्वर बहुत ज्यादा महसूस करते हैं क्योकि सग्रह के आरभ म ही उनकी घोषणा है—"अब मैं कवि नही रहा/एक काला झडा हू ।" इसलिए यह अप्रत्याशित नही था कि उनके इस सग्रह मे ऐसी कविताए हो जिन्हे आज की स्थितियों से कुछ लेना-देना हो। सग्रह की तीन ऐसी कविताए 'मेरे दोस्तो !', 'मेरे दोस्त !' तथा 'मेरे देशवासियो !' को सबोधित हैं। 'धीरे-धीरे' का प्रारभ व्यक्तिगत 'नोट' पर होता है किंतु अचानक 'देश' का जिक्र आता है। अभी पाठक सभल ही रहा था कि पुन व्यक्तिगत पक्तिया उसे गडबडा देती हैं "धीरे-धीरे/अब मैं ईश्वर भी नही पाना चाहता,/धीरे-धीरे/अब मैं स्वर्ग भी

नही जाना चाहता,/धीरे-धीरे/अब मुझे कुछ भी नही है स्वीकार/चाहे वह घृणा हो चाहे प्यार।" दो समानातर धाराए दीखती है किंतु उनका मेल कही भी नही होता। कवियो की अतिम नौ पक्तिया बाकी पक्तियो से भाषा तथा शिल्प मे इतनी भिन्न हैं कि बाद मे चिपकाई गई लगती हैं। 'यह खिडकी' मे भी यह द्वित्व उपस्थित है—"हवा को यदि आना हो तो आए/दरवाजा भडभडाये, तोड जाए,/अन्यथा सीकचो पर सिर टिका/रोकर चली जाए/किसी असमर्थ की प्रतीक्षा से/बद कमरे की घुटन बेहतर है/जिसने खुद अपनी जबान काट ली हो/उससे नही बोलूगा" के साथ "यह बद कमरा/सलामी मच है/जहा मैं खडा हू—/पचास करोड आदमी खाली पेट बजाते/ठठरिया खडखडाते/हर क्षण मेरे सामने से गुजर जाते हैं" सरीखी पक्तिया हैं। "नक्शे पर देश के/और आखो मे प्यार के/सीमात धुधले पडते जा रहे हैं" तथा "असमर्थ देश/असमर्थ प्यार/दोनो को ही मेरा नमस्कार" से कवि के इरादे कुछ स्पष्ट होते हैं किंतु महज इरादे कविता नही होते।

दो नेताओ पर लिखी गई कविताए इस बात की अच्छी मिसाल हैं कि नेताओ पर खराब कविताए कैसे लिखी जा सकती हैं। 'लोहिया के न रहने पर' शीर्षक स्वय मे स्पष्ट है। किसी भी कवि का किसी भी 'नेता' पर कविता लिखना कविता का और खुद का अवमूल्यन करना है। यदि लिंकन सरीखो की बात छोड दें तो बडे-से-बडे राजनीतिज्ञ और नेता अपने कमजोर क्षणो मे बहुत मामूली सिद्ध हुए हैं। फिर लोहिया भारत के प्रथम पक्ति के नेताओ मे तो निस्सदेह नही गिने जा सकते—भले ही हिंदी साहित्यकारो को बर्दाश्त करने का दुर्लभ सद्गुण उनमे रहा हो। एक दायरे म उनकी उपलब्धिया बडी हैं किंतु राजनीतिक मतभेद को व्यक्तिगत विवादो पर उतारने तथा वर्तमान ससदीय अनुशासनहीनता के बीज उन्ही के बोये हुए हैं। इस बात मे जाना बेकार है कि यदि वे जीवित होते तो क्या होते, किंतु पिछले वर्ष 'हिंदुस्तान टाइम्स' ने उनकी बरसी पर उन्हे 'द फिगर दैट द कॉफी हाउस गोअर्स मिस' कहकर स्मरण किया था। यहा स्पष्ट करना उचित होगा कि वैसे तो इस तरह की राजनीतिक चर्चा का समीक्षा मे कोई स्थान नही होना चाहिए, किंतु चूकि जिस कविता की बात हो रही है वह एक नेता को लेकर लिखी गई है तो शायद यह उपचर्चा पूर्णरूपेण अप्रासगिक नही है। व्यक्तियो पर लिखी जाने वाली प्रशसात्मक या कहे 'भावुक' कविताओ के पीछे नियम यह है कि हो सकता है किसी महान् व्यक्ति पर कोई घटिया कविता लिखी जाए, किंतु किसी द्वितीय दर्जे के महान् व्यक्ति पर प्रथम श्रेणी की कविता लिख पाना असभव है। नेहरू पर कविता हो भी सकती है—मोरारजी या कामराज पर कविता की कल्पना दारुण है। इसलिए जब सर्वेश्वर "मैं साधारण /(इसी शब्द से

तो था/तुम्हे इतना प्यार)/कहता हू : ओ मेरे देशवासियो/एक चिनगारी और" तो यह स्पष्ट है कि ये पक्तिया उनके हृदय मे अकित लोहिया के एक रूमानी तथा अतिरजित चित्र से प्रेरित हैं और क्राति के इस क्रिग्जोटनुमा आवाहन की सही पूर्वाभास है "एक चिनगारी और—/जो खाक कर दे/दुर्नीत को, ढोगी व्यवस्था को, कायर गति को/मूढ मति को,/जो मिटा दे दैन्य, शोक, व्याधि,/ओ मेरे देशवासियो/यही है उसकी समाधि" तथा "सुख-सपत्ति घर आवे, कष्ट मिटे तन का" से कुछ ही दूर है।

ऊपर कहा गया है कि महान् व्यक्ति पर घटिया कविता लिख पाना सभव है और वह 'पचधातु' मे स्पष्ट है, जो गाधीजी पर आधारित है। गाधीजी तथा वर्तमान 'नेताओ' के बीच इतनी बडी खाई है कि उस पर सिर्फ व्यग्य लिखना ही सभव रह गया है क्योकि वही आसान है। व्यग्य एक सशक्त साहित्यिक विधा है किंतु सर्वेश्वर के व्यग्य का स्तर गाधीजी की लगोटी के बिल्ले बनवाने और चप्पलो से गरीबो की खाद गजी करवाने का है। मुझे पूरा विश्वास है कि गाधी शताब्दी वर्ष होने के नाते पिछले वर्ष दिनकर सोनवल-कर ने गाधीजी का सहारा लेकर अवश्य एकाध व्यग्य लिखा होगा और वह कविता निस्सदेह सर्वेश्वर की इस कविता से बेहतर होगी। 'बुद्धिजीवी' तथा 'दूसरो के कपडे पहनकर' 'पचधातु' के समान ही व्यग्य है और अपनी 'नाई-पते' मे समान रूप से बचकानी है। इनमे जो व्यग्य हरकतें हैं वे उसी निम्न स्तर की है जिसकी प्रतिच्छवि बबइया फिल्मो के विदूषको मे तथा 'हवा महल' की 'बेगम, सुनती हो' छाप हास्य-नाटिकाओ मे उपलब्ध है—"गौर से देखा मैंने, चश्मा नाक पर उन्होने चिपका रखा था टेप से,/कानो के पीछे छ-छ इच बडी कमानियो पर/टगा हुआ था चेस्टर,/जिसे दोनो हाथो मे फास/बाध रखा था उन्होने कमर पर/नीचे टागें शायद नगी थी—बेपर्दा/जूतो पर बधा हुआ था पान और जर्दा।"

चूकि आज के कविता-सग्रहो की एक रूढि "यातनाओ के सलीब और सलीबो का घेराव", "उजासो का पाखी और बैंगनी उदासी की बासुरी" तथा "तोडते हुए आयाम तथा अकेलेपन के व्यायाम" सरीखे शीर्षक वाले उप-खड हैं, इसलिए सर्वेश्वर के इस सग्रह के तीन खड आश्चर्यान्वित नही करते, आश्चर्यान्वित करती है तीसरे खड की पहली कविता जिसकी प्रथम पक्ति ही पाठक की धडकनें तेज कर देती है—"फिर वसत ने मुझे डसा···"। पहले दो चरणो मे पाच पक्तियो का एक निजी छद इस्तेमाल किया गया है किंतु तीसरा चरण, जिसे पहले दो की परपरा निबाहनी चाहिए थी, अचानक नौ पक्तियो का हो उठता है और पढने मे गडबड है। यह तो खैर शिल्पगत बात हुई। कविता मे वसत के डसने, अजगर, उसकी लपेट, सासो के घुटने तथा जहर से

खासा सिलसिला स्थापित हो गया है। अचानक अठारहवीं पंक्ति में कवि वसत की आशीष मागने लगता है और उतने ही अचानक एक नरकोकिल कवि के सिर पर बैठ अट्टहास कर उठता है। जहां तक मैं समझता हू अट्टहास या तो सिर्फ 'किया' जाता है या कोई 'अट्टहास कर उठता' है, 'अट्टहास कर हसना' मेरे लिए नई बात है। चूकि तुक मिलाना जीवन-मरण का प्रश्न है, इसलिए 'अट्टहास कर हसा' जरूरी है। इसे यदि उपेक्षित कर भी दिया जाए तो यह जान पाना कठिन है कि ये तीन पक्तिया कविता में किस तरह आवश्यक हैं, और फिर सिर पर बैठकर पक्षी ने जिस तरह अट्टहास किया है उससे चमगादड सरीखे किसी पक्षी का चित्र ज्यादा उभरता है। 'अचानक' शब्द यहा यू ही नही है—इन पक्तियो की हास्यास्पद विचित्रता को छिपाने के लिए उपयुक्त एक चतुर आवरण है।

सर्वेश्वर एक उपमा लेकर कविता प्रारभ करते हैं किंतु कुछ दूर निवाह-कर अपनी उपमा का 'न्याय' भूल जाते हैं और इससे कविता में उलझाव पैदा होता है। स्त्री या स्त्री की आखो को नदी कहकर उसके चेहरे पर अपने चुबन को जलपाखी कहना दूर की कौडी न भी हो लेकिन इन दोनो के बीच "गालो पर दहकती/वह आग/कोमलो की अब कहा है? पुराने पत्ते ओढ़कर चुक्षा सो गया है" लाकर वे एक उपमा को एक नितात अलग रूपक से गड्ड-मड्ड करते है। 'प्रयोगवाद-|-नयी कविता की एक निरीह रूपक को खीच-खीचकर मरणासन्न कर देने की हरकत 'शाम एक किसान' में है जिसमें शाम का मानवीकरण किया गया है। अव्वल तो शीर्षक ही गलत है, जो इन प्रारभिक पक्तियो से स्पष्ट होगा—"आकाश का साफा बाधकर/सूरज की चिलम खीचता/बैठा है पहाड", जिसका साफ अर्थ है कि पहाड को किसान समझा गया है, शाम को नही। अब इस कविता का कुछ समीप से मुआयना किया जाय। पहाड को किसान माना जा सकता है, किंतु समूचे आकाश को उसका साफा मानना मुश्किल है—बादल का टुकडा होता तो भी गनीमत थी। बहरहाल, यह किसान सूरज की चिलम खीच रहा है। पहाड के 'मुह' से 'सूरज' तक चिलम के आकार की कौन-सी चीज है? उसके 'हाथ' क्या हैं? फिर, कश खीचने वाले जानते हैं कि ऐसा करते वक्त सिगरेट (या चिलम) का जलता हुआ हिस्सा लाल हो जाता है, सास छोडते ही वह फिर धीमा पड जाता है। क्या शाम को सूरज इसी तरह बारी-बारी से जलता-बुझता हुआ डूबता है? घुटनो के पास की नदी के लिए 'पडी हुई' इस्तेमाल करना अवास्तव है। फिर 'सुनते हो' की आवाज सुनते ही 'किसान' फौरन चिलम उलटा देता है, यानी सूरज एक छपाके या धमाके के साथ टूट गिरता है। अब यदि आप पूछें कि 'सुनते हो' में जो आदेश छिपा हुआ है उसका पालन 'किसान' ने

'उठकर' कैसे किया तो वह आपकी हठधर्मी नही तो और क्या है ? मानवीकरण का सबसे बडा खतरा यह है कि असमर्थ कवि उसके काम मे आने वाले उभयनिष्ठ लक्षण तो तुरत इस्तेमाल करता है किंतु जो 'टेढे' प्रश्न है उन्हे कालीन के नीचे कचरे की तरह छिपाने की कोशिश करता है। इस कविता की अंतिम दो पक्तिया हमारे सभावित कुतूहल को बहलाने के लिए चिपकाई गई हैं। वहा उनकी कोई आवश्यकता नही है क्योकि पहले जब स्पष्ट हो चुका है कि सूरज चिलम है तो चिलम के औंधी होने का अर्थ उसका डूबना ही होगा। ये पक्तिया कविता को एक छद्म 'अत' देने का प्रयास मात्र हैं, क्योंकि रूपक को अपने तर्क-सगत परिणाम पर पहुचाना अचानक कवि के बूते के बाहर हो गया।

हर युग मे कविता की एक प्रमुख प्रवृत्ति होती है और अधिकाश कवियो की शक्ति उसे अभिव्यक्त करने मे जुटी होती है। मैं यहा यह नही कह रहा हू कि उस प्रमुख स्वर के अलावा कोई और काव्य-प्रवृत्ति हो ही नही सकती। सह-अस्तित्व हर जगह सभव है। सभव है कि यदि युग समाज तथा राजनीति से उपजने वाली कविता का हो तो कोई कवि—अच्छा कवि—ऐसा भी हो सकता है जो उस धारा से हटकर, बल्कि बिलकुल विपरीत, लिख रहा हो। शायद वह उस युग मे न खोज निकाला जाए, किंतु यदि उसमे वास्तव म कुछ है तो उसकी बारी अवश्य आएगी। किंतु जहा यह सच है कि अलग-अलग प्रेरणाओ और दबावो मे लिख रहे प्रमुख कवि एक स्तर पर समान होते हैं, वहा यह भी सच है कि द्वितीय तथा अन्य वर्गों के कवियो को खास स्तर पर पहुचन के बाद अपनी सीमाए पहचान लेनी चाहिए और उनके अनुसार अपनी महत्त्वाकाक्षाओ को भी पुनरीक्षित करना चाहिए। एक सदिग्ध प्रथम श्रेणी की तलाश के बजाय एक ईमानदार द्वितीय या तृतीय दर्जे का कवि होना ज्यादा सार्थक है। सर्वेश्वर उन कवियो मे से हैं जिन्हें प्रथम पक्ति के बाद की पक्तियो म से एक से ही सतोष करना होगा। उनके पास न तो श्रीकात वर्मा का विश्वद्रोही चिडचिडापन है और न रघुवीर सहाय सरीखा सतुष्ट शिल्पलाघव, केदारनाथ सिंह की 'प्रगीतात्मकता' भी उनमे नही है। नये लोगो मे धूमिल, कमलेश, देवताले, अशोक वाजपेयी आदि उन्हें मीलो पीछे छोड गये हैं। सर्वेश्वर की कविता की त्रासदी यह है कि उनके पास सवेग तो है किंतु सर्जनात्मक दृष्टि की वह प्रखरता नही है जो उन्हे एक महत्त्वपूर्ण कवि बना सके। नतीजा यह *कि प्रभावोत्पादकता के चक्कर मे वे सामान्य शब्दो और मुहावरो का आश्रय* लेते हैं। सामान्य शब्दो और मुहावरो से कविता नही हो सकती यह नही कहा जा रहा है, किंतु उन्हें आप किस तरकीब मे देखते है यह न केवल आपकी कविता की पहचान कराता है बल्कि आपके तरीके को भी प्रभावित करता है।

मैं पहले ही कह चुका हू कि यह कोई नहीं चाहेगा कि सर्वेश्वर इसकी या उसकी राह चलें। मैं यही कह रहा हू कि उन्हे आवश्यकता एक सार्थक सर्वेश्वरदयाल सक्सेना बनने की है—अभी उनकी कविता से उनका कोई अर्थवान व्यक्तित्व नही उभरता। दस-पद्रह वर्षों से लगातार कविता लिखते रहने के बाद भी यदि यह स्थिति बनी रहती है तो समय आ गया है कि सर्वेश्वर अवास्तव तथा गढ़ी गई ख्याति के मोहजाल से छूटें और देखें कि किस तरह वे आश्चर्यजनक किंतु दु खद गति से, आज की कविता ही नही, कविता मात्र के लिए अप्रासगिक होते जा रहे हैं और विस्मृति के उस क्रूर कगार पर खडे हुए है जहा उन्हें केवल एक ही सतोष हो सकता है कि वे अकेले नही है।

चीख की भाषा भी हुल्लड़ हो गई

१९६४ मे कैलाश वाजपेयी का पहला कविता सग्रह प्रकाशित हुआ था और तब से अब तक के कुछ ही वर्षों मे हिंदी कविता में एक महत्त्वपूर्ण बदलाव आ चुका है। इस बात पर शायद सहमति हो गई है कि जिसे नई कविता कहा जाता था उसका युग समाप्त हो चुका है किंतु उसकी उपलब्धियों को आत्मसात् कर हिंदी कविता की समसामयिक धारा अधिक वेगवती तथा बलिष्ठ हुई है। नई कविता मे से नव्य-छायावादी तत्त्वों का लोप हो जाने से, और नये कवियों द्वारा उसे एक नई प्रखरता देने से आज हिंदी कविता का स्वर केवल सात-आठ वर्षों पहले की ही कविता से इतना पृथक् है कि केवल शुतुर्मुर्गों को छोडकर बाकी सब पर यह स्पष्ट है। हिंदी काव्य-मानस एक ऐसी दहलीज पर खडा हुआ है जहा से पीछे मुडने की कोई गुजाइश नहीं है। इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि १९६४ मे कैलाश वाजपेयी हिंदी मे अपने ढग के एकमात्र कवि थे जिनकी कविताओ को उनकी प्रवृत्ति विशेष से पहचाना जा सकता था। इन कविताओ मे आक्रोश था, नफरत थी और एक क्रूरता थी और यह सब चूकि उस समय नए थे, यदि स्वागत्य नही थे तो कम-से-कम आकृष्ट तो करते ही थे और परिणामत. कैलाश वाजपेयी को एक ऐसा पाठक-वर्ग (और कवि-वर्ग भी) प्राप्त हुआ जिसके और उनके बीच घृणा प्रेम सबध था। उनकी कविताओ का स्वर बहुत तीखा था और स्वाद बहुत कसैला, किंतु यह भी सही था कि कहीं जाकर उनका कवि एक गहरा सामाजिक प्राणी था। किंतु अकवियो का झुड उनके शब्दों के 'वायलेंस' को अपनाकर उनसे भी आगे बढ तो गया, उनके सामाजिक सदर्भों से कट गया और फलस्वरूप हास्यास्पद अत को प्राप्त हुआ। कैलाश वाजपेयी शायद इससे इन्कार करें किंतु हिंदी मे उनके बाद ऊलजलूल 'वायलेंस' की जो बाढ आई है उसके लिए पहली

जिम्मेदारी उन्ही जैसे कवियो की है।

उनका दूसरा सग्रह 'देहात से हटकर' मूलत पहले सग्रह से भिन्न नही है किंतु यह अवश्य है कि रोष तथा असहायता का स्वर उसम और सपृक्त तथा तीखा हो गया है। यह आकस्मिक नहीं है कि 'सक्रात' की कविताओ स इस नए सग्रह की कविताए ज्यादा लबी है। पिछले पाच वर्षों म न तो दुनिया मे कुछ ऐसा हुआ है और न देश म कि उन सरीखे कवि से कुछ और की अपक्षा की जा सके। यदि कवि समाज और विश्व से निर्लिप्त रह सके तो यह उसका सौभाग्य है क्योकि फिर उसकी कविता से किसी तरह की माग करना व्यर्थ होगा, किंतु जो कवि अपने कृतित्व को अपने आस-पास के विश्व के दाव पर लगाता है वह जान-बूझकर एव जोखिम उठाता है। साहित्य समाज का दर्पण है या नही—एक फूहड प्रश्न है किंतु यह सत्य है कि कवि न भी चाहे तो समाज मे रहने तथा उससे प्रभावित होने (भले ही रिमोट कट्रोल स) के लिए अभिशप्त है और फिर इस दुबले पर दूसरा असाढ यह है कि वह सोचता, समझता, महसूस करता है—और लिखना भी चाहता है। 'सामाजिक' विषयो पर लिखी गई कविताओ के साथ कठिनाई यह है कि उन्हें आकलन तथा टिप्पणी का दुहरा कर्त्तव्य निभाना पडता है और वह भी साहित्य के तकाजो के अतर्गत—पत्रकारिता की सुविधाओ के बीच नही। सामाजिक स्थितियो पर लिखी गई कविता, यदि वह फूक-फूककर नही लिखी गई है तो तुरत एक ढर्रे का शिकार होती है और उसका अधिकाश हिस्सा अखबारनवीसी बनकर रह जाता है। सामाजिक कविता का 'यथार्थ' होना एक अनिवार्य शर्त है किंतु यथार्थ को साचा बनते देर नही लगती। इसमे यदि कुछ दोष कवि के एक फार्मूला के शिकार हो जाने का है तो उन स्थितियो का भी कम नही है जिन पर उसकी कविताए टिकी हुई है। एक तथ्य, जो अक्सर भुला दिया जाता है, वह यह है कि सामाजिक स्थितिया बहुत धीरे-धीरे तथा अधिकाशत अदृश्य रूप मे बदलती हैं—यदि अन्य बातें समान रहे तो बीसवी सदी के इधर के दशको मे एक और पुनीत मिथक टूटा है और वह 'क्राति' का है। और फिर स्थितिया किसी दूसरे देश म हर सप्ताह बदल जाए भारत मे, जहा अभी भी जाति, धर्म, प्रात, भाषा आदि के नाम पर क्या-कुछ नही हो रहा है, सामाजिक परिवर्तन की आशा एक चमत्कार की बाट जोहने के समान बचकानी है। उधर विश्व की राजनीति मे भी एक गत्यवरोध आ गया है—कश्मीर, बिआफा, वियतनाम, क्यूबा, चेकोस्लोवाकिया, बर्लिन, रगभेद, इजराइल, निशस्त्रीकरण आदि शाश्वत प्रश्न बनकर रह गए हैं। ऐसी स्थिति मे हिंदी के उस कवि के लिए, जो अपने कच्चे माल के लिए सामाजिक-राजनीतिक स्थितियो पर आश्रित है, यह अपरिवर्तन-शील या अल्पपरिवर्तनशील सामग्री होती है

१. राजनीतिक अव्यवस्था, संसद तथा विधान सभाओं की उपद्रवपूर्ण हास्यास्पदता, राजनीतिक चरित्रहीनता, सौदेबाजी, 'जनता' के हितों के प्रति पूर्ण उदासीनता।
२. एक भयावह अर्थव्यवस्था—गरीबी और अमीरी के बीच बढ़ती हुई अकल्पनीय खाई, महंगाई, बेरोजगारी, इन्हें और त्रासद बनाती हुई बाढ़, अकाल, महामारी की दैवीय विपत्तियां।
३. पुलिसराज, नौकरशाही, गोलाबारी, हिंदू-मुस्लिम दंगे, हिंदी आंदोलन, गो आंदोलन, अंग्रेजी आंदोलन।
४. समाज के प्रत्येक अंग में भ्रष्टाचार, 'जनता' की अपरिमित सहनशक्ति और बेहयाई, तमाम मूल्यों का ह्रास।
५. बुद्धिजीवियों की कुर्सीपरस्त नपुंसकता।
६. कलाओं का वाणिज्यीकरण।
७. देश से बाहर—हंगरी, चेकोस्लोवाकिया, बर्लिन में रूसी अमानवीयता, नीग्रो तथा वियतनाम को लेकर अमरीकी बर्बरता तथा कभी भी विश्व-विनाश की संभावना।

यह सूची पूर्ण न मानी जाए, किंतु मुझे विश्वास है कि जो मैं कहना चाह रहा हूं उसे स्पष्ट करने में यह सहायक होगी। इन स्थितियों के परम्यूटेशन-कॉम्बिनेशन संभव हैं किंतु कहीं आकर उनका भी अंत होगा ही। प्रश्न यह है कि जब हिंदी में तमाम ऐसे कवि, जो इन पर लगातार लिख रहे हैं, इन्हें तार-तार कर चुके होंगे और स्थितियां फिर भी नहीं बदलेंगी तब क्या होगा?

समसामयिक कविता के सामने शायद यह समस्या अभी न हो किंतु जिस मुस्तैदी से कविताएं लिखी जा रही हैं, कोई कारण नहीं दीखता कि बहुत शीघ्र कैलाश वाजपेयी तथा समानधर्मा कवियों के सामने वह उपस्थित न हो। आखिरकार आप कितने तरीकों से हमें यह बता सकते हैं कि संसद व्यर्थ है, भ्रष्टाचार बहुत है, पुलिस गोलियां चलाती है, नौजवान बेकार हैं और लोग भूखों मर रहे हैं। यह नहीं कि यह सब बताना महत्त्वपूर्ण नहीं है या यह सब असत्य है। प्रश्न यह है कि दुहराव-तिहराव-चौहराव के पश्चात् क्या हम इनकी प्रखरता और सत्य को कम तो नहीं कर रहे होंगे? वह बात छोड़ भी दें तो इन तमाम कवियों की इस तरह की तमाम कविताओं को पढ़ना कौन चाहेगा? आज स्थिति कुछ ऐसी आ गई है कि कैलाश वाजपेयी, चंद्रकांत देवताले, धूमिल, लीलाधर जगूड़ी, तथा जगदीश चतुर्वेदी की कविता में कुछ दूर जाकर फर्क करना न केवल कठिन हो गया है बल्कि अनावश्यक भी।

कैलाश वाजपेयी के दोनों संग्रहों में सवा सौ कविताएं हैं जिनमें से शायद

सी 'एक जैमी' है। इसके बावजूद भी आप उन्हे पढ जाते हैं कि यह उनकी कम उपलब्धि नही है। कैलाश वाजपेयी अपनी बात साफ-साफ कहते हैं—कई बार बहुत ज्यादा साफ—और वह सीधी चोट भी करती है। किंतु उनकी रचनाए कही भी राहत नहीं देती—एक लगातार तनाव दिमाग को जकडे रहता है और इसीलिए कुछ देर बाद एक खीझ तथा उसके बाद एक सदेह होने लगता है। प्रत्येक कवि का यह भरसक प्रयास रहता है कि उसकी कविताए एक प्रभाव छोडने मे सफल रहे, किंतु जब उसकी दिलचस्पी इसमे हो जाती है कि यह सिलसिला कभी टूटने ही न दिया जाए तो बात साफ हो जाती है कि उसके लिए प्रभाव तथा उसके उपकरण ज्यादा महत्त्वपूर्ण हो चुके हैं, कथ्य नही। कैलाश वाजपेयी के पिछले सग्रह की कुछ उपमाए मुझे अनावश्यक रूप से भ्रमसिद्ध तथा क्रूर लगी थी—'जैसे ताजा कमल खोलते पानी मे, खौलते जल मे जैसे बच्चा छूट गिरे' और इन कविताओं मे भी यह आदत छूटी नही है—'कूद जाऊ ताजे चूने में', 'रात के कडाह मे खून टपकता है' आदि। मच से जब धर्म-गुरु नरको का आखो देखा हाल सुनाते हैं तब श्रोताओ के विस्फारित नेत्रो को देखकर और भी रगीन चित्र प्रस्तुत करते चले जाते हैं। एक सीमा के बाद कैलाश वाजपेयी की कविताए भी सेडिज्म को छूने लगती हैं और फिर कविता कविता न होकर 'सैल्फ-फ्लैगेलेशन' हो जाती है।

कैलाश वाजपेयी की कविताओ का एक उलझाने वाला पहलू उनमे सैंस ऑव ह्यूमर की कमी भी है। वैसे पिछले सग्रह मे—और इस सग्रह मे भी—उनकी कुछ शरारती कविताए थी अवश्य और उनसे हिंदी कविता के गुरु-गभीर घटाटोप म कुछ आशा बधती थी किंतु आश्चर्य और खेद का विषय है कि अधिकाश रचनाए उस विनोद से अछूती है। कैलाश वाजपेयी की 'गभीर' कविताए बेराहत 'गभीर' हैं जबकि उनमे चुटकियो की अनेक सभावनाए थी। इसलिए जब मैंने फ्लैप पर 'व्यग्य' शब्द देखा तो मैं चौंका। अपवादो को छोड दें तो हिंदी मे दूसरो पर किया गया ही व्यग्य माना जाता है किंतु व्यग्यकार यह भूल जाता है कि व्यग्य करते समय उस पर भी कुछ छीटे पडते ही होगे। जिस 'वेहमस' तथा गाभीर्य से कैलाश वाजपेयी लिखते हैं और स्वय पर हस नही पाते वह आश्चर्यजनक है। चीख की भाषा भी यदि हुल्लड हो गयी है तो बहुत-कुछ दोष देर तक सिर्फ चीखते रहने का भी हो सकता है।

कैलाश वाजपेयी की कविताओ मे समसामयिक स्थितियो का सत्य असदिग्ध है और आज के भारतीय समाज की विकृतियो की उनकी पहचान एकदम 'फर्स्ट हैड' है। प्रश्न पुराना है किंतु अभी भी जायज है कि आखिर 'यथार्थ-चित्रण' का किया क्या जाए? कवि कह सकता है कि मेरा काम तो तुम्हे यह सब बतलाना ही था और मैंने वह कर दिया, अब तुम्हारी तुम जानो—कवि

डॉक्टर तो है नहीं कि मर्ज भी बताए और इलाज भी करे। इससे आगे वह यह भी कह सकता है कि यथास्थिति का चित्रण क्या अपने-आपमें एक हथियार नहीं है ? किंतु यथास्थिति का कहीं ज्यादा प्रामाणिक ब्यौरा तो सुबह के अखबार भी देते है, इसलिए क्या वे कविता से बड़े हो जाएगे ? खबरें कविता होते-होते यू बच जाती है कि उन पर एक रचनाकार या उत्तरदायी मस्तिष्क कलात्मक तरीके से कार्य नही करता। केवल सत्य सतुष्ट करने के लिए पर्याप्त नही होता, हम उसके कारणो, परिणामो तथा, यदि आवश्यक हो तो, उपायो तक भी पहुचना चाहते हैं।

यह हमें कैलाश वाजपेयी की कविता के दूसरे पहलू की ओर ले जाता है। उनके पास भय, घृणा, सत्रास, क्रोध तथा नकार के सारे शब्द मौजूद हैं किंतु किसी तरह की आशा का कोई नामोनिशान नहीं है। स्पष्ट है कि यह रुख जान-बूझकर पोसा गया है और वे कहीं भी उम्मीद की गुजाइश नहीं देखते। यहा आकर बात 'प्रतिबद्धता' तथा 'पक्षधरता' के करीब आने लगेगी, किंतु मुझे कभी-कभी लगता है कि निराशावादी होना एक कठिन काम है। लेकिन निराशावादी होना एक और बात है और जूझने से मुह मोडना दूसरी। इन कविताओ मे एक भी पक्ति ऐसी नहीं है जो कवि के सघर्षरत होने अथवा उस ओर मुडने की इच्छा को प्रमाणित कर सके। 'एक भला आदमी कहलाने की धुन में/पीछे एक चीज हिलने वाली/लगा ली है' सरीखी पक्ति मुक्तिबोध में ढूढे नही मिलेगी। कैलाश वाजपेयी की प्रत्येक कविता के अत मे जैसे अदृश्य अक्षरो मे 'इसलिए पराजय ही स्वीकार है' लिखा हुआ है। चूकि उनका विश्वास है कि विद्रोह/एक ऐसा हथियार है/ठीक रहे धार/बिमानी हो जाता है/न रहे,/खा जाता है जनक को', अत वह उनकी कविता से निष्कासित है। वे कहते है 'अब सब अग्निप्रश्नो से दूर चला आया हू' और मानते हैं कि 'रचना के अतिरिक्त मलत्याग से/कही अच्छी है/कठ जडता/मूर्ख सिद्धि/खालिस अकर्म !' स्पष्ट है कि 'स्टेटस को' रहे या उससे भी बदतर हालात हो जाए, उनका कवि निर्वाण की स्थिति में पहुच चुका है। तो फिर यह पूछा जा सकता है कि यह सारा शोर किसलिए ? यहा पहुचकर यह भयावह सभावना बनती है कि कहीं कैलाश वाजपेयी को यह नरक अभिव्यक्ति की एक सुविधा तो नही दे रहा है जिसके चलते वे उससे न छुटकारा पाना चाहते है और न देना ? आज की भयावहता का सामना करने के दो तरीके हो सकते है—उसे पहचाना जाए और उससे जूझा जाए, या उसे पहचाना जाए और उससे जूझने के कार्य को व्यर्थ समझकर एक ऊबे हुए गुस्से का स्थायी आश्रय ले लिया जाए। कैलाश वाजपेयी का तरीका दूसरा है और हम सबको कभी-न-कभी 'यह सब व्यर्थ है' का अहसास हुआ है। इसके साथ खतरा यह भी है कि यह एक फैशनेबल आश्रय बन जाता है और हर तरफ से

आये हुए भगोड़े इसके नीचे दुबकने की कोशिश करते है। धीरे-धीरे यह बहुत महगी विलासिता मे बदल जाता है और इसके भाष्य भी बनने लगते हैं। हिंदी के कुछ युवा कवियो ने इस खतरे को पहचाना है और फिर किन्ही मूल्यो की ओर जाने की कोशिश होने लगी है। 'प्रतिबद्धता' आदि के नारो से दूर युवक कवि कोई ऐसी वस्तु खोज रहे हैं जो मुहर या साचा न बनने पाए। कैलाश वाजपेयी ने सन् साठ के बाद की कविता को अपना योगदान दिया अवश्य, किंतु इससे उन्हें कोई दुःख नही होना चाहिए कि अब हिंदी में कुछ नयी आवाजें ऐसी हैं जिन्होने उसका परिष्कार किया है और उसे सही सदर्भ दिए हैं। कैलाश वाजपेयी की कविता को 'राइट-ऑफ' कर देना सभव नही है किंतु जब तक उनके विकास के प्रमाण नही मिल जाते तब तक यही कहना होगा कि उनकी कविता वर्तमान सदर्भों मे अर्थ-प्रासगिक है।

चुसे हुए शब्दों का एक विराट् मलवा

यदि कहा जाए कि हिंदी का प्राय प्रत्येक अध्यापक साहित्यकार होता है—वह भले ही 'शाला' पत्रिका का हो या 'धर्मयुग' स्तर का--तो इसे व्यंग्य नहीं मानना चाहिए, क्योंकि यह एक तथ्य है। मुझे नहीं मालूम कि अमरीका और इंग्लैंड में अंग्रेजी के सारे अध्यापक साहित्यकार होते हैं या नहीं (भारतीय अंग्रेजी प्राध्यापक तो नहीं होते—जो कि शायद उनकी विवशता ज्यादा है, चुनाव कम) किंतु देखा यह गया है कि हिंदी का प्राध्यापक साहित्य लिखने को एम० ए० के आठ लिखित पर्चों के बाद निरंतर चलने वाला एक नया पर्चा मानता है। संभव है कि आधुनिक हिंदी के आदि युग में हिंदी पाठ्यक्रम में अभिवृद्धि करने हेतु तत्कालीन आचार्यों ने इस प्रवृत्ति को न केवल आविष्कृत किया हो बल्कि प्रोत्साहित भी किया हो, किंतु अब जबकि हिंदी में साहित्यकार होने के लिए उस भाषा में पढ़ाना तो क्या, उसे ठीक से जानना भी अनिवार्य न रह गया हो अधिकांश अध्यापकीय साहित्य-सृजन को यदि गैर-जरूरी न भी माना जाए तो कम-से कम उसे एक संयम देने की इच्छा प्रकट करना अनुचित न होगा।

साहित्य-सृजन सरीखे पुनीत कार्य-क्षेत्र से मैं किसी को भी बहिष्कृत नहीं करना चाहता, मैं सिर्फ गलत किस्म के प्राध्यापकों को ही (वे किसी भी भाषा के क्यों न हों) साहित्य-रचना से वंचित देखना चाहता हूं। सही किस्म की परिभाषा चूंकि कठिन है, अतएव मैं गलत को ही बतलाऊंगा। गलत किस्म का प्राध्यापक डॉक्टरेट को उन्नति अस्त्र के रूप में ग्रहण करता है, प्राध्यापकीय पांडित्य प्रदर्शित करने के लिए दो-एक निहायत पाठ्य-पुस्तकनुमा ग्रंथ रचता है, तत्पश्चात् साहित्य की किसी भी विधा में किसी भी कीमत पर 'अमर' होने के लिए (आवश्यक नहीं कि इसी क्रम में) कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, रेडियो, टेलीविजन, फीचर, अनुवाद आदि करता है। इतने पर भी संतुष्ट न

होकर वह इन विधाओं की 'गहराई' में जाता है—कविता में 'नयी कविता', 'नवगीत', 'अकविता' एक साथ लिखता है, उपन्यास में 'सामाजिक', 'आंचलिक' तथा 'अस्तित्ववादी' उपन्यास लिखता है और कहानी में एक राकेश-कमलेश्वर-भारती स्कूल, दूसरी निर्मल वर्मा स्कूल, तीसरी श्रीकांत वर्मा स्कूल तथा चौथी भल्ला-कालिया-बख्शी स्कूल की लिखता है। आलोचक, पहले ही कहा जा चुका है, वह होता ही है। आखिर इतिहास अब बचकर कहा जाएगा ?

स्पष्ट है कि इतने वैविध्य के तकाजों का असर (यदि वे वास्तविक हों तो) रचनाकार के मस्तिष्क के लिए घातक हो सकता है। किंतु हर्ष का विषय है कि ऐसे हर कलात्मक संकट का एक हल मौजूद होता है। साहित्य के इतिहास में अमर होने के तकाजों के दबाव में लिख रहा व्यक्ति कपड़ों को आत्मा समझ तुरंत ध्वनियों, शब्दों तथा मुहावरों की ओर दौड़ता है। हिंदी कविता के पिछले पांच-छ: वर्षों में हो कवियों, कविताओं और कविता-पत्रिकाओं की जो बाढ़ आई है उसका अर्थ यह कतई नहीं है कि भारत एकाएक काव्यमय देश हो गया है। एक खास तरह का पोज, एक विशिष्ट शब्द-भंडार और कविता लिखने की वेगवती इच्छा—कविता का इससे ज्यादा आसान नुस्खा और क्या हो सकता था ? आधुनिक हिंदी कविता की एक अदृश्य 'फ्रेजबुक' तैयार होनी चली गई ; शब्दों का एक ऐसा कुआं प्राप्त हो गया कि जिसके हाथ डोर और बाल्टी लगी वह कविताएं उलीचने लगा। रामदरश मिश्र के संग्रह 'पक गई है धूप' में, जो तीन खंडों में विभक्त है, यह भरसक कोशिश की गई है कि आज की कविताओं में प्रयुक्त शब्दों से कोई भी छूट न जाए :

'और 'मैं' के नीचे कुचला हुआ 'मैं'/तड़पता रहता है भीड़ में खोए किसी एकांत के लिए/जिसे वह अपने को दे दे।'

'मैं तड़फड़ाता, अपने को नोचता/भागता हूं/तो एक ऊंची दीवार से टकरा जाता हूं ''और लावारिस कुत्ते की तरह/किसी पहिए से कुचलकर मर जाता हूं।'

'क्रास पर टंगी हैं/सत्य, अहिंसा और न्याय की ऋचाएं ''कुर्सियों पर, खम्भों पर/मुरदे बिछे हैं'''मुरदों के हाथों में सड़ते/नोटों के कफन से ढके/न्याय की दुर्गंध टकराती है'''भगवान खड़ा किया जाता है/और हर बार उसे मार दिया जाता है ''रात भर/भगवान अपनी लाशें बटोरता है।'

'हम सब भीड़ में समाज-समाज चिल्लाते हुए घूमते हैं/और अकेले में/अपने से पूछते हैं—/समाज ? । कहां है समाज ?'

इन पंक्तियों के इन शब्दों से, उनके विन्यास से, मुहावरों से तथा विचारों की परिणति से हिंदी का पाठक इतना अधिक परिचित हो चुका है कि पूरी कविता में सिर्फ पांच-छ: शब्दों पर दृष्टिपात करके ही वह उनका रुझान समझ सकता

है। ये समस्त कविताएं कई कवियों द्वारा पिछले कई वर्षों में कही जा रही चीजों से न तो कथ्य में भिन्न हैं और न शैली में। ये निहायत परिचित प्रतिक्रियाओं की निहायत परिचित कविताएं हैं और किसी कविता-प्रेमी पाठक को भले ही आदोलित कर सकें हिंदी के उस जागरूक श्रोता-वर्ग को संतुष्ट नहीं कर पाएंगी जो इस अभ्यस्त करतब से ऊब चुका है और कुछ नया देखना-सुनना चाहता है।

संग्रह का दूसरा खंड स्वयं कवि के शब्दों में 'गीतात्मक संवेदनाओं की कविता' का है और पहला ही 'गीत' हमें चेतावनी दे देता है कि हम उसमें क्या पाने वाले हैं

मन जाना मीत कहीं और
आज फागुनी हवाओं में बहके हैं बौर

तीसरे गीत की प्रत्येक पंक्ति एक क्लिशे है और 'अरी री', 'मरी री' वाली अत्यंत हास्यास्पद अनुभूति की एक फूहड़ कविता का निर्माण करती है

चिटक उठी धूप, प्रिय
टूट गयी सीढ़ी
ताल में गिरी मैं
जल में तिरी मैं
अंग-अंग जल हुआ
रही न कहीं की री!

लोग आधुनिक कविता की दुरूहता की बात करते नहीं अघाते, किंतु मैं पूछना चाहता हूं कि 'टूट गयी सीढ़ी' तथा 'रही न कहीं की री' इस 'गीत' को किस तर्क से अर्थ प्रदान करते हैं? साफ है कि यह और इस तरह के समस्त 'गीत' शब्दों के चटखारे लेकर लिखे गए हैं जिनके पीछे मिठास पैदा करने के नाम पर शक्कर परोसने की वमनोत्तेजक कोशिश है। एक अन्य कविता में इसी तरह की अर्थहीन, घिसी-पिटी गीतात्मकता है— कैसा-कैसा लगता है आज/जैसे चौरस्ते पर भरा-भरा घड़ा/कोई फोड़ गया हो।' मैं यह स्वीकार करने को तैयार हूं कि मैं मतिमंद हूं यदि कोई यह समझाने को राजी हो जाए कि 'कैसा कैसा लगना' किस तरह 'चौरस्ते पर किसी के घड़ा फोड़ने' से उत्पन्न भावना के समतुल्य है।

गीतात्मकता पैदा करने के सारे फार्मूले (जिन्हें गिनाना निस्सार है) रामदरश मिश्र की कविताओं में मौजूद हैं किंतु कदाचित् सर्वाधिक दुर्भाग्यपूर्ण है शब्दों को जोड़ों में प्रस्तुत करने की छायावादी हरकत। परिणामत: इस संग्रह के गीत 'चलते-चलते', 'पोर-पोर', 'भरी-भरी', 'छोटी-छोटी', 'पीले-पीले',

'कैसा-कैसा', 'भरा-भरा', 'फूली-फूली', 'पीली-पीली', 'कहा-कहा', 'रात-रात', 'आ-आ', 'लिपट-लिपट', 'अग-अग', 'हसते हसते', 'साथ-साथ', 'समा-समा', खीच-खीच', 'रिस-रिस', 'तग-तग', 'उठ-उठ' 'टकरा टकरा', 'बुला-बुला', 'दूर-दूर', 'रग-रग', 'रह-रह', 'लिख-लिख', 'छन-छन', 'बह-बह', 'लौट-लौट', 'उलीच-उलीच', 'जाता-जाता', 'आती-आती', 'फूल-फूल', 'दिशा-दिशा', 'पानी-पानी', 'अक्षर-अक्षर', 'कली-कली', 'हवा-हवा', और यहा तक 'कि 'फफफ-फफफ' आदि पर टिके हुए है।

सग्रह का तीसरा खड हिंदी कविता के नवीनतम स्टट—लबी कविताओ—का है। मुक्तिबोध सरीखे कवि के लिए लबी कविता एक अनिवार्यता होती थी, किंतु 'अधेरे म' के बॉक्स-ऑफिस हिट होते ही हिंदी कवियो मे छिपा हुआ सफलतागामी बबइया इस सोने के अडे देने वाली बत्तख के पीछे छुरी लेकर दौडने लगा, परिणामत लबी कविता की यह विधा दिल्ली मे जगह-जगह लगे हुए 'मेरा प्रयोग कीजिए' मार्का कूडेदानियो मे बदल गई। यदि आपके मस्तिष्क मे कुछ ऐसे अनुभव है जिन्हें ऑर्गेनाइज कर अर्थवान काव्य-सृजन आपके लिए कठिन हो तो नाटक + वियतनाम + सिनेमा + शिश्न + टेलीविजन + बीजगणित + पचाग + जन्मकुडली + योनि + सन्निपात शैली मे सिर्फ एक लबी कविता लिखना ही पर्याप्त होगा। आज कवि-कर्म इतना आसान हो चुका है कि पाठको को भी कविता के फार्मूले रट गए हैं और पतन, क्रूरता तथा सत्राध की एक सतही शब्द-लाघवता उन्हे कविता के बहुत भीतर जाने से रोकती है। चूकि दौर एक विशेष तरह की प्रगल्भ कविता का है जिसके प्रमुख लक्षण मशीन-युग की भर्त्सना, तथाकथित 'पाश्चात्य' सभ्यता की निन्दा, वर्तमान सामाजिक-राजनैतिक स्थिति का घृणामय आकलन वगैरह हैं, रामदरश मिश्र की कविताओ मे 'सडक चरमराकर चीख उठती है', 'एक लावारिस लाश पडी है/जिसकी अगल बगल से/सफेद सस्कृति की धाराए बह आती है कतराकर', 'टेरेलिन पहने कुछ जवान बाबू', 'मेनहोल मे एक बच्चे की लाश', 'पेशेवर धर्मनेता/गीता और रामायण की पक्तियो को/पान की पीक की तरह थूकते हुए', 'कोई गाधी उन्हें रोकता है/तो उसे गोली मार दी जाती है', 'मरी हुई मछलिया, सडे अडे, छिपकलियां, मक्खियां', 'चीखती चिमनिया/टूटता हुआ आकाश/झोपडियो को निगलती हुई रातें/···दीवारो पर चिपके पोस्टर कलाओं के', 'ईसा, गौतम, गाधी की प्रतिमाओ की छाया' आदि ठसाठस भरे हुए हैं, भले ही इनमे सबध केवल कलाबाजियो से ही क्यों न स्थापित किया गया हो।

रामदरश मिश्र की ये लबी कविताए, उनकी अन्य कविताओं के समान, तथा दूसरे कई कवियों की अधिकाश ऐसी कविताओ के समान, 'ऐटीट्यूडिनाइजिंग'

से विस्फारित एक रूमानी पोज से अधिक कुछ भी नही है। शाब्दिक पराक्रम तथा एक प्रच्छन्न पवित्रता प्रत्येक पक्ति मे मिलेगी—स्वय के विषय में कवि कुछ भी नही कहेगा, किंतु इन पक्तियो से परावर्तित हो एक आत्माभिषेकी उजियाला बार-बार उस पर छा जाएगा। ऐसी कविताओ के सृजन के बाद वह अपना रथ पृथ्वी से कुछ ऊपर चलता हुआ अनुभव करता है। इन कविताओ मे कही भी यथार्थ को स्वीकार्य कविता बनाने की चिंता नही है, सब-कुछ ज्यों-का-त्यो दे दिया जाता है, फलत: शब्दो के रूमानी घटाटोप से साक्षात्कार होता है

तुम्हारी बातो ने
खेतो मे फैले पसीने के फूलो को निगला है
बखारो या गोदामो मे बद राशियो को नही
तिजोरियो और बैंको मे बद जड सिक्को को नही
और एक गदा काला नेता
अपने मशक जैसे मोटे पेट मे भरी
गदी गैस निकालता रहता है
अपने घिनौने बदबूदार जबडे से
आग धधकती है
तो वह एक खादी का मुखौटा पहन लेता है

सग्रह की दो लबी कविताए—'गाडी आ रही है' तथा 'फिर वही लोग' रामदरश मिश्र के समस्त प्रलोभनो और पराभवो को उजागर करती है। पहली कविता भारत-पाकिस्तान युद्ध से प्रेरित है और उसकी प्रारभिक पक्तियो म बमवर्षा के बाद का यह 'मार्मिक' चित्रण है

एक गाव अपने हरे-भरे दामन मे झुलस गया है
मदिरो, गिरजाघरो मे झुकी प्रार्थनाए
मस्जिदो मे सोई हुई अजान की ध्वनिया
जबह कर दी गई हैं

तत्पश्चात् देश की भौतिक-आध्यात्मिक शक्ति का यह 'अभिभूत' कर देने वाला चित्रण

हमारी सीमाओ की फौज के पीछे
एक लबी फौज खडी है—
तरह-तरह के हथियार लिए
गाधी, गौतम, राम और कृष्ण के
भरे-बादल से उठे हुए हाथ

इसके बाद हमारी बहादुर सेना की विजय-प्राप्ति का वर्णन तथा साम्राज्यवादी षड्यन्त्रकारियों के साथ चीन की साठ-गाठ होने का निर्मम पर्दाफाश है और अन्त मे, चूकि रूमानी कवि का सर्वाधिक प्रिय स्वप्न कुछ भी न करते हुए जो हो रहा है उसका सक्रियतम अग बनना होता है, ये पक्तिया अप्रत्याशित नही हैं :

हमारी गोलिया शत्रु के उन्माद पर टूट रही हैं
अधेरे की घाटियो से गुजरती गाडी का यात्री मैं
आह, मैं
लगातार गोलिया बन छूट रहा हू ।

'फिर वही लोग' इसी तरह की शाब्दिक वीरता, शाब्दिक भावुकता तथा शाब्दिक निरर्थकता से ओत-प्रोत एक दुखदायी कविता है । इसकी पक्तियों मे वही सूचीपत्रनुमा क्रमबद्ध भारतीय पापाचार, अत्याचार, कथनी-करनी भेद, 'भारत दुर्दशा देखी न जाई' आदि का अबार लगा हुआ है जिस पर लिखकर हर हिंदी कवि अपने उत्तरदायित्व से 'इसटैंट' मुक्ति प्राप्त कर लेता है । इन तथा ऐसी पक्तियों मे कही भी स्वय के अदर दूर तक झाकने की, विरोधाभासो की सही पकड की, समूचे मानव-अस्तित्व की हास्यास्पदता तथा त्रासदी की तथा कवि-कर्म की सार्थक-निरर्थकता के अहसास की कोई आवश्यकता नही समझी गयी है । रामदरश मिश्र तथा इन जैसे कवियों का उद्देश्य शब्दो से एक 'प्रभाव' पैदा करना होता है, 'अर्थ' नहीं । वे अधिक-से-अधिक शब्दो मे अधिक-से-अधिक उपलब्धिया चाहते है, और शब्दो मे अमरत्व चाहते है, शब्दो मे नहीं । कहना न होगा कि ऐसे प्रत्येक अवसरवादी के हाथो शब्द अपने सारे अर्थ खोकर कबाडखाना बन जाते है ।

चीज लगातार मेरे हाथ से फिसल रही है

प्रयाग शुक्ल के सकलन 'कविता सभव' की कविताओ का ससार उनका एकदम निजी ससार है। निजी कविताए भी 'विविध' तथा 'विस्तृत' हो सकती हैं यदि उनका रुझान दर्शन या वैचारिकता की ओर हो, लेकिन प्रयाग शुक्ल का विश्व उन वस्तुओ का विश्व है जो कवि से ऐन्द्रिक रूप मे कही जुडी हुई है और इसलिए यह समझना कठिन नही है कि उनकी कविताओ मे 'बडी बहन', 'बचपन के सस्मरण', 'पिता की सपत्ति', 'पिता की याद', 'जहा बचपन गुजरा था वहा जाने वाली सडक', 'मा का चेहरा और पिता की बातें', 'बचपन मे कमरे', 'टूटे पुराने और सुदर घर', 'खपरैल से झरती हुई छत', 'मा का चेहरा', 'पगडडी पर चला आ रहा मित्र', 'पैतृक घर' और 'मा के द्वारा बाधी गई पूरिया' सरीखे चित्र बार-बार उन्ही अर्थों मे आए है जिनमे वे स्वय कवि के जीवन मे हैं।

मैं अभी शारीरिक और मानसिक रूप से इतना अधेड नहीं हुआ हू कि प्रयाग शुक्ल के लिए 'नवोदित' सरीखा हास्यास्पद विशेषण इस्तेमाल करू। 'नयी कविता' के उत्कर्ष-काल मे वे लिख रहे थे, महानगरो मे रहे, समीक्षाए भी लिखी। हिंदी कविता के पिछले कुछ वर्षों मे जो उथल-पुथल हुई उसे भी उन्होंने निकट से देखा होगा—मुक्तिबोध की मृत्यु तथा उनकी कविता की खोज और प्राप्ति, अकविता का उत्थान तथा पतन, एक नयी किस्म की जागरूक कविता का उदय—इन सबके वे चश्मदीद गवाह रहे हैं। किंतु उनकी इन कविताओं मे इन काव्य-घटनाओ का कोई भी आभास नही है। श्रीकात वर्मा, रघुवीर सहाय, धूमिल, चद्रकात देवताले, लीलाधर जगूडी सरीखी कविता के इस दौर मे (जिसकी रूढिया भी उतनी तेजी मे बन रही हैं जितनी अकविता की बनी थी) यदि एक समवयस्क कवि आज के

मुहावरे का प्रयोग नही करता तो इसका क्या अर्थ हो सकता है ? एक तो यह कि प्रयाग शुक्ल ऐसा करने मे असमर्थ हैं—किन्तु उन सरीखा कवि यदि चाहे तो कम-से-कम एक समर्थ नकल अवश्य कर सकता है, और इस दौर मे यह तय करना कठिन होता जा रहा है कि आज की कितनी कविता 'वास्तविक' है और कितनी 'छद्म' । स्पष्ट है कि उन्होने यह सुविधा स्वीकार नही की और जान-बूझकर एक जोखिम उठायी—एक विशेष मूड के दौर मे न केवल उन्होने उससे एकदम विपरीत मूड की कविताए लिखी, बल्कि उनके प्रकाशन के लिए १९६८ का वर्ष चुना, जो उस विशेष मूड मे लिखी गई लबी कविताओ का वर्ष कहा जा सकता है । यह बात और है कि इस जोखिम को उठाने म वे दूसरी तरह की सुविधा के शिकार हुए ।

स्पष्ट है कि यदि प्रयाग शुक्ल का काव्य-ससार भ्रष्टाचार, पार्लियामेंट, मूर्खता, लोहिया, हिंदी, गाय, हडताल, तालाबदी, आगजनी, बलात्कार, वक्तव्यबाजी आदि का ससार नही है तो ऐसा सोच-विचारकर है । उनका ससार न 'आधुनिक' है, न 'समसामयिक', न 'भारतीय' । वह 'शहरी' भी नही है, नगर का जिक्र उसमे कही-कही है, किन्तु सिर्फ एक मच-निर्देश की तरह । उनकी कविताओ मे शहर से न ऊब है, न भय और न घृणा । शहर को उन्होने एक 'नॉस्टैल्जिया' के जरिए अनुपस्थित कर लिया है "दृष्टि को घुमाता हू सुदूर/छोरो मे,/ पहुच के परे,/वहा मा का चेहरा है" (एक पक्ति टेढी हो जाती है) "तुम याद कर रहे थे कुछ और/नही याद आ रहा था कुछ और/यह नही"·· "याद करते चले जाओगे/चले जाओगे" (एक गैर-जरूरी कविता) "याद आती है डूबी हुई शामे/उनमे लिपटी हुई गध/उनमे सिमटे हुए दृश्य" (शामे) "बीत गई, बीत रही चीजो के बीच मे"(मैं हू) "इस समय जबकि मैं आसानी से खोल सकता हू/अतीत की खिडकियो को" (इस समय) "यो इसे सुनकर वह लडकी याद आती है"····"और चीजो के बीच सिर्फ गुजरना भर याद रहता है" (निशान) "कौन-सी है डाल जो अचानक उग आती है हवा मे/और बचपन की ओर लौटाकर/फिर लटका देती है अधर मे" (सिर्फ एक डाल) "यानी छोड आया हू बहुत-कुछ बचपन के कमरो मे/टूटे पुराने और सुदर घरो मे/कच्चे-पक्के अनेक रास्तो मे/कि अब उन्हे याद मे भी ठीक से जोड नही सकता" (एक उम्र) ।

इस तरह की अनेक पक्तिया उद्धृत की जा सकती है, बल्कि ऐसा सरलीकरण देना भी सभव है कि प्रयाग शुक्ल 'नॉस्टैल्जिया' के कवि हैं, क्योकि उनकी प्राय समस्त कविताओ मे विगत प्रत्यक्ष या प्रच्छन्न रूप मे उपस्थित है । एक स्वस्थ मात्रा मे नॉस्टैल्जिया साहित्य की सारी विधाओ के लिए आवश्यक भी हो सकता है, किन्तु उसका निरतर आश्रय कला के लिए तो खतरनाक है ही —वह व्यक्ति को भी कैंसर की तरह कुतरता चला जाता है । असयत

नॉस्टैल्जिया एक छिछली भावुकता—और उससे भी अधिक घातक वस्तु आत्मदया—को जन्म देता है "जहां-जहां होना चाहता हूं/वहां-वहां न होने का एक/अस्थिर उलाहना है/एक दुस्सह दूरी है, जिसे मापते हैं/व्याकुल पैर"... 'वे सारी दूरियां, जिन्हें इतने पास/और व्याकुल मन में मैं ही जानता हूं" (*अस्थिर उलाहना*) "जितना समेटता हूं, उतना ही लगता हूं असहाय" (गांठ) 'क्या वह मैं ही था और वह मैं ही होऊंगा/असहाय, निरुपाय, मौसम और लोगों की तटस्थता से/टूटा हुआ/जीवित संपर्कों से छूटा हुआ, फिर कभी/तुम्हें सदा जीवित रखने में असमर्थ/... 'क्या मैं फिर करुणा विगलित होकर भी, वह न पाने/की असमर्थता में छटपटाऊंगा, लिए हुए एक प्यास !" (दृश्य परिवर्तन) "डूबती गई हैं शामें/गलियों में, अकेले कमरों में/उदास घरों में/ डूबती गई है विकल शाम/" डूबती जाएगी शामें/डूबती जाएगी गंध/डूबते जाएंगे दृश्य/डूबता जाऊंगा मैं (शामें) "छोटे-छोटे गढ़ों में छोटे-छोटे दुखों की तरह/भर गया है पानी"'कितना क्या खो गया है का हिसाब भरते/देख रहा हूं वह हरियाया उजाड़" (नहीं, यह नहीं) ।

कविता और जीवन दोनों में आत्मदया के उल्लंघन के न केवल मार्ग हैं बल्कि उदाहरण भी हैं और चूंकि हम सब आदमी हैं, कभी-न-कभी आत्मदया का एक दौरा हम पर पड़ना लज्जाजनक नहीं है, किंतु आत्मदया को आत्मपीडन में परिणत होते समय नहीं लगता और वहीं से आत्मदया के कलात्मक इस्तेमाल का पतन प्रारंभ होता है । *आत्मदया तब न केवल एक मजेदार चीज हो जाती है* बल्कि एक आभूषण भी बन जाती है और उसके साहित्येतर उपयोग होने लगते हैं । आत्मदया को सॉब-स्टफ से बचा ले जाना एक कठिन कला है और प्रयाग शुक्ल को अभी उस लाघवता की प्राप्ति के लिए बहुत दूर जाना है ।

यहां आकर इसका स्मरण दिलाने की आवश्यकता महसूस होती है कि यद्यपि यह हो सकता है कि आत्मदया और *'नॉस्टैल्जिया'* संबद्ध हों, उनका उद्गम एक ही है—आत्म-केंद्रीयता या आत्ममोह । यदि कवि ने अपने व्यक्तित्व को विरल कर लिया है तो उसके काव्य में 'नॉस्टैल्जिया' उतना ही विरल होगा और आत्मदया का तो प्रश्न ही नहीं उठेगा—यदि उसका उपयोग स्वयं पर—और इस तरह सब पर—व्यंग्य करने के लिए न हो । आधुनिक युग का मिजाज या तो क्रोध का है, *या व्यंग्य का या मोह भंग का*, और प्रयाग शुक्ल में ये तीनों नहीं हैं । इन तीनों के सिवाय काव्य हो ही नहीं सकता यह मैं नहीं कहता—बृहत् मानवीय संबंधों तथा करुणा में विश्वास, यह भी *काव्य का विषय हो सकता है*, मुक्तिबोध का तुरंत स्मरण हो आता है । कहा जा सकता है कि प्रयाग शुक्ल की कविताओं में मानवीय संबंधों का अभाव नहीं है—उनके काव्य-संसार का उल्लेख पहले ही हो चुका है—किंतु वे उन संबंधों को वह कलात्मक विरलता

का समाग है। दृष्टव्य है कि इन कविताओ में यदि स्थितियो से मुकाबला नही है तो विशुद्ध सुख और आह्लाद भी नही है, केवल इनकी काव्यात्मक चर्चा अवश्य है। युवा कवि प्रेम पर कविता लिखे यह तो समझ मे आता है, किंतु जब भाषा यह रूप धारण कर लेती है तब ?

"प्रिय, झलकता है दूरियो मे होने का सुख
और खो देने का दुख—
इन्हे नही देखती।
रहने दें आज बस यही तक प्रिय।" (पाठ)

'अब' मे भाषा, कथ्य और तकनीक का ह्रास इतना हो चुका होता है :

"अब मैं तुम्हारे साथ-साथ रहूंगा—
तुम जिधर देखोगी मैं उधर देखूंगा।
मैं जो कुछ पाऊंगा, उसे अकेले नही देखूंगा
हाथ पकड़कर तुम्हें भी दिखाऊंगा।"

'कब' मे एक निहायत मामूली विचार को काव्यात्मकता देने का यह प्रयास भी दृष्टव्य है

"डर नही लगेगा कि यात्रा के खत्म होने से
पहले ही
उसे किसी दूसरे ने पा लिया होगा

प्रयासहीन।"

जिसका 'गद्यार्थ' यह है कि 'डर नही लगेगा कि इससे पहले उससे मेरा विवाह हो, कोई और ही दूल्हा बनकर उसे ले उड़े।' प्रयाग शुक्ल भावनाओ के कवि हैं और ऐसे हर कवि के समक्ष यह समस्या होती है कि वह किस तरह उन्हे कविताओ मे व्यक्त होने तो दे, किंतु साथ ही 'बेनलिटी' और 'बेथॉस' से भी बच निकले। किसी कोमल भावना को मुह चिढाते हुए व्यक्त कर पाना भी सभव है इसे अभी (हम सब) हिंदी कवियो को सीखना है। भावना अपने-आप मे कोई अस्पृश्य वस्तु नही और उसे कविता से देशनिकाला शायद कभी भी नही दिया जा सकता, किंतु उसे भावुकता मे परिणत होने से रोकने का प्रयास प्रत्येक कवि को करना चाहिए, वर्ना छायावाद को पीछे छोड आने का दावा व्यर्थ होगा। कम-से-कम एक स्थल ऐसा है जहा प्रयाग शुक्ल छायावादियो को भी पीछे छोड गए हैं—उन बेचारो के यहा सिर्फ पोडशिया लजाती थी, किंतु 'वापसी' मे "शर्म से लाल—नही, कोई भी नही देख रहा/कि कहा रहे इतने दिन" पक्तिया इसका प्रमाण हैं कि वे हिंदी के एकमात्र युवा कवि हैं जो

लज्जा से आरक्त हो सकते हैं।

क्या कोई कवि अपनी कविताओं की समीक्षा पढ़ने के पश्चात् अपने लिखने का ढग बदल देता है ? क्या प्रयाग शुक्ल यह सब पढ़ने के बाद मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, श्रीकात वर्मा या डिलन टॉमस या ह्यूबर्ट की तरह कविताए लिखना प्रारभ कर देंगे ? क्या उनके लिए ऐसा करना श्रेयस्कर होगा ? जाहिर है कि ऐसा कुछ नही होगा। समीक्षाए कवि को नही बदल सकती और न रुचि को ही। कवि के व्यक्तित्व और रुचि दोनो स्वय ही बदलते और विकसते हैं, किंतु *प्रयाग शुक्ल को शब्दो की पहचान है और वे अपनी* आवश्यकताओ के अनुसार उनका प्रयोग भी कर लेते हैं। सप्रति जो भावनाए उनके पास हैं उनके लिए उपयुक्त शब्द और लहजा उनके पास है इसमे कोई शक नही। अभी उनके काव्य-ससार को एक सीमित सुरक्षा प्राप्त है, किंतु वे उसके जान-बूझकर बदी हो गए हैं। ऐसी स्थिति बनी रहेगी, यह मैं नही मानता यद्यपि मैं जानता हू कि प्रयाग शुक्ल की कविताओ मे परिवर्तन लाने के लिए उनके रचना-ससार मे एक महती 'घटना' भी आवश्यक है। वह क्या होगी और कब होगी यह प्रश्न अप्रासगिक है। हम इसी से सतोष करना होगा कि हमारे देखते देखते एक कवि स्वय मुक्त हो।

लीलाधर जगूड़ी की कविता : कुछ नोट्स

लीलाधर जगूडी की कविताओ मे अमूर्त जन-समुदाय कम ही आया है। उनकी अधिकाश कविताए गाव, खेत, बैल, पेड, पिता, भाई, मा के ज्यादा ठोस ससार की कविताए हैं। इससे एक बात साफ हो जाती है कि वे हिंदी के अधिकाश कवियो से अलग गाव के कवि हैं और जिस परिवार के बारे मे वे अक्सर लिखते है वह शहर या कस्बे का टूटता हुआ परिवार नही है, किंतु टूटन सिर्फ कस्बो और शहरो की ही बपौती नही—छोटी-छोटी चीजें और छोटे-छोटे सुख हर जगह अपने-अपने तरीके से नष्ट हो रहे है। सबध जैसे हो गये हैं उनमे कवि का कितना हाथ है यह बताना मुश्किल है, किंतु यह सच है कि आज के सच्चे कवि की शुरुआत ही वहा से होती है जब वह स्वय को आशिक या पूर्ण-रूप से अपराधी मान लेता है। बीसवी शताब्दी मे आदमी पर जितने जुल्म हुए है वे शायद बाकी पिछली उन्नीस शताब्दियो मे मिलाकर भी न हुए होगे—राजनीतिज्ञों तथा इतिहासकारो के पास उन सबके भाष्य मौजूद है, किंतु कविता की आत्मा पर जो धब्बा है उसे कवि ही जानता है, यह शायद इसलिए है कि कवि शायद कभी भी अपनी 'सैनिटी' नही खोता या हमेशा ही पागल रहता है। एक सही कवि कभी भी पूर्णरूपेण 'बौद्धिक' नही हो सकता, क्योकि कविता की जड़ें आप लाख न माने केवल शुद्ध बुद्धि मे नही होती (यहा शायद जगूडी और धूमिल मे जो फर्क है उसका भी एक सूत्र मिल सकता है—धूमिल मे 'इमोशन' बहुत कम है और वे अपना 'कवित्व' दाव पर लगाने को हमेशा तैयार रहते है जबकि जगूडी बहुत कुछ जानते-कहते हुए भी अपना 'कवि' बचा ले जाते है) और यह पूरी तरह से व्यावहारिक न हो पाना ही अत मे उसे स्वय को ही सारे पापो के लिए दोषी मान लेने के लिए बाध्य करता है। 'यह मैं हू वदी' कविता में एक त्रिकोण है—'इस भीड मे मेरा छोटा भाई', 'यह मैं ··

वदी,' तथा 'उस भीड मे "वह मेरा पिता' । इस त्रिभुज के बीच एक बदहवास बिंदु की तरह मा भी है जिसके हाथ "हम तीनो को समेट सकने के लिए अब छोटे पड गये हैं।" पूरी कविता एक ठडे अवसाद मे डूबी हुई है जिसमे सवादहीनता की अनिवार्यता को गहरे अपराध-भाव से छू दिया गया है। 'दडस्वरूप' 'यह मैं हू वदी' के चित्र को दूसरे कोण से देखने वाली कविता है। फर्क यह है कि जहा 'यह मैं हू वदी' सिर्फ परिवार के मौन को अभिव्यक्ति देती है वहा 'दडस्वरूप' उसकी भूख को। परिवारो की यह चुप्पी भूख से शुरू होती है—भारत की तपती दोपहर मे भारत के करोडो 'घरो' का सन्नाटा खाली पेट से ही उपजता है।

एक कविता 'परिवार की खाडी मे' है जहा यद्यपि कवि का 'जहाज' "परिवार की खाडी मे लगर डालकर खडा है" किंतु वास्तविकता यह है कि जहाज खाडी मे डूब रहा है और"'और "पत्नी" और "मैं" अपने-अपने तरीको से चीजो को बचाने की कोशिश मे है। किंतु शोर, थपेडो, आधी के बीच जो कुछ बह रहा है उसे ठोक-पीटकर भी समग्र नही रखा जा सकता। कविता म प्रयुक्त शब्दो से साफ है कि यह 'जहाज' नही, लकडी के तख्तो को जैसे-तैस ठोक-पीटकर तैयार की गयी एक लाचार नाव है। दैन्य इसमे नही है, पलायन भी नही है, सिर्फ सर्वनाश के बीच पूरी स्थिति को एक पल निर्लिप्त आखो से देख लिया गया है। परिवार के छिन्न-भिन्न होने की इन तीन कविताओ मे स्थितिया ठोस एव वास्तविक हैं, किंतु चौथी कविता 'स्मृति-स्वरूप' वैफल्य तथा अपराध भाव को 'फैंटेसी' मे व्यक्त करती है। जिन कई चीजों से हम आजीवन मुक्त नही हो पाते उनमे पिता द्वारा स्वय उनके बारे मे तथा हमारे बारे म देखे गये स्वप्न भी होते है—वे विरले ही सौभाग्यशाली होते हैं जो अपने पिता की मर्जी क अनुसार आई ए एस, डॉक्टर, इजीनियर या लखपती हो पाते हैं। विफल स्वप्नो पर लिखी गयी यह कविता 'नॉस्टैल्जिया' तथा 'फैंटेसी' के आधे कुहासे को खूब पकडती है। इस कविता तक पहुचते-पहुचते परिवार के बाकी सब सदस्य छूट गये हैं, सिर्फ पिता और पुत्र के बीच छटपटाती परपरा भर रह गयी है।

हिंदी मे तीन कवियो ने अपनी कविताओ मे घोडे के चित्र दिये है—जगूडी, चद्रकात देवताले तथा कमलेश, और जगूडी की इस कविता मे तथा अन्य कविताओं मे घोडो के शरीरो को बारीकी से देखा जाना एक अलग सुखद अध्ययन हो सकता है। यह फिर मुझे हिंदी कविता के भयकरतम दोष की ओर ले जाता है—आस-पास की जीवित तथा पार्थिव वस्तुओ को कभी गौर से न देखने का। दरअसल हिंदी के कवियो का सारी चीजो मे कभी उत्साह नही रहा (एक तरह से देखें तो अभी भी हिंदी कविता अधिकाशत आध्यात्मिक

तथा वायवीय है) और अधिकांश हिंदी कवि हमेशा अपनी काहिली तथा क्षीण दृष्टि को रीति काल के युग से ही किसी-न किसी तरह की आसान भाषा मे छिपाकर दहाडते-चिघाडते रहे है। इस प्रसग मे जगूडी की कविता 'स्वप्न-भग' का भी उल्लेख आवश्यक है। यह मैं मानता हू कि स्वप्न-भग के बैल सिर्फ बैल ही नही हैं किंतु यहा भी जानवरो के बैठने-उठने, जुगाली करने, चमडी हिलाने आदि का वही सूक्ष्म आकलन है जो उन वस्तुओं मे से है जो हमेशा एक जागरूक कवि को साइन-लगाऊ कवि स अलग करती हैं।

ऊपर कहा गया है कि जगूडी काफी-कुछ जानते-कहते हुए भी अपना 'कवि' बचा ले जाते हैं। मैं यहा पर बचा ले जाने' क्रिया का उपयोग मर्यादा मे नही, प्रशसा मे कर रहा हू। आदमी और आदमी के बीच राजनीति जो सबध स्थापित करती है वह 'समझा हुआ' होता है, हड्डियो तथा खून और मज्जा मे महसूस हुआ नही। दुर्भाग्यवश आज हिंदी कविता मे अधिकाश कविताए ही नही, अधिकाश साहित्य 'समझा हुआ' लिखा जा रहा है। जगूडी की कविताए 'आषाढ', 'रगो के पास एक पूरी भाषा है' 'अपराध', 'दूर', 'अभी अभी', 'सभावना', 'अधेरे मे वसत' 'पत्तियों के नीचे', 'वसत', 'अजनबी मेहमान', 'रात', 'अ-मृत' (जो इस सग्रह मे नही होनी चाहिए थी) कविता के वृहत्तर दायरे के बीच एक अपना दायरा बनाती हैं और दरअसल मैं यह मानता [redacted] कि यह अपना दायरा न होता तो जगूडी की कविता में वह दुर्भाग्यपूर्ण एकसरसता आ जाती जो वर्तमान हिंदी प्रतिबद्ध कविता का दम घोटे दे रही है।

जगूडी की कविताए एक प्रतिबद्ध व्यक्ति की कविताए हैं उसी तरह जिस तरह कि आज की हिंदी कविता मे जो भी प्रासगिक है वह प्रतिबद्ध है। इधर लेकिन हिंदी मे एक लहर-सी उठने की कोशिश कर रही है जो यदि ईमानदार है तो दुर्भाग्यवश मतिमद है और यदि बेईमान है तो मौकापरस्त। बचकाने और चालू (बाजार) मार्क्सवाद का बाजार गर्म करने का यत्न किया जा रहा है जिसके चलते किसी भी प्रतिभावान् हिंदी कवि का काव्य-आयुष्काल बमुश्किल छह महीने रह गया है। मुझे याद है इन हलको मे जगूडी सन् सत्तर तक एक मान्य कवि थे किंतु चूकि उनकी कोई भी कविता कृषक क्राति की अनिवार्य पक्ति से प्रारभ नही होती इसलिए उनका बहिष्कार अपरिहार्य था। मतिमद आलोचको ने कविता मे प्रतिबद्धता मापने के अजीबोगरीब फूहड मानदड ईजाद किये है। जगूडी की कविताए चूकि चीत्कार, फूत्कार, हुकार नही करती इसलिए वे सही साहित्य तथा सही प्रतिबद्धता का विरोध करने वाले चालू दिमागो मे नही उतर सकती। मैं पहले ही कह चुका हू कि धूमिल की तुलना मे जगूडी ज्यादा 'सवेदनशील' दिखायी देंगे किंतु जब धूमिल सरीखे असदिग्ध प्रतिबद्ध कवि को खारिज करने की साजिश हो रही है तो जगूडी की कविताओं पर

अग्निवर्षण बहुत सरल है। आज की कविता मे सवाल यह किया जाना चाहिए कि आज की परिस्थितियो मे वह किसके साथ है—पिसते हुए आदमी के साथ या उसके विरोधियो के साथ। व्यापक रूप से प्रतिबद्ध कविता को पाखण्डपूर्ण बारीकियो के बल पर खेमो मे बाटने का अंतिम अर्थ साहित्य की प्रतिबद्धता से डराकर पुन व्यक्तिवादी, एकातवादी, वेदातवादी कुए मे फेंक देना और इस तरह सीधे-सीधे प्रगतिविरोधी खेमे की चतुर साजिश का शिकार बनना होगा। हर्ष इसी बात का है कि कई तरह के प्रलोभनो, धमकियो, भविष्यवाणियो के बावजूद भी हिंदी के जितने भी महत्त्वपूर्ण युवा कवि हैं वे इस हाव हाव से उदासीन वही लिख रहे हैं जो यथासभव आज के आदमी की भाषा मे आज के आदमी की कविता है। जगूडी की प्रतिबद्ध कविताए पढते हुए यह बार-बार लगता है कि वे ऐसे कवि की कविताए हैं जो न घबराया है और न ही किसी खेमे मे लोकप्रिय होने को आमादा।

जगूडी की कविता मे जो चीज कभी दातो में कक्ड की तरह आती है वह है उनकी भाषा। हाल ही मे प्रो० हैरोल्ड ब्लूम की किताब 'द एक्जाइटी ऑफ इफ्लुएस' मे मोटे तौर पर यह सिद्धात प्रतिपादित किया गया है कि हर ऐसा कवि जो उल्लेखनीय होना चाहता है अपने पूर्ववर्ती कवियो के प्रभाव से बचना चाहता है। इस सिद्धात से आशिक रूप से सहमत होता हुआ मैं अत्यत विनम्र भाव से यह कहना चाहूगा कि किसी कवि के सामने चिंता सिर्फ इसी बात की नही रहती कि वह दूसरो के प्रभाव से मुक्त रहे, बल्कि उसे वृहत्तर चिंता यह रहती है कि वह अपना स्वय का एक व्यक्तित्व, एक आवाज बना पाये। उसे 'एन एक्जाइटी फॉर एडिवीडुएलिटी' या 'ए सर्च फॉर ए वायस' कहना ज्यादा उचित होगा। सिर्फ प्रभाव से बचने से ही क्या हो जायेगा यदि वह कुछ अपना न बना पाये। जगूडी अभी अपने पूर्ववर्ती या सहवर्ती कवियो के प्रभाव से मुक्त हैं ऐसा तो मैं नही कहता—हा मुक्त हो चले है और उस मुक्त हो चलने मे योग-दान अपनी भाषा प्राप्त करने की उनकी छटपटाहट का भी है। 'इस यात्रा मे' की अधिकाश कविताओ म आगामी बलिष्ठतर जगूडी का चित्र देखा जा सकता है किंतु कभी-कभी अपनी कविता पर अपनी छाप लगाने की उनकी चिंता कुछ ऐसे शब्द समूहो मे प्रतिफलित होती है जिनका लगभग कोई अर्थ नही है। दुर्भाग्यवश कुछ कविताओ म पहले जो कविताश (एपिग्राफ) आये हैं वे सारे-के-सारे व्यर्थ लगते है। मुझे लगता है कि कभी कभी जगूडी विनगत सज्ञाओ तथा विशेषणो मे तालमेल बैठाने, जो वे कहना चाहते है उसे बहुत ही परोक्ष, अमूर्त ढग से कहने के कौशल-प्रदर्शन म बह जाते हैं और फिर 'आदिम रुचि के किसी हरामी क्षण मे' अपने 'प्राचीनतम को समेटकर चीजो के महाननम से गुजरते हुए समूचे इन-कार से सम्बद्ध', "जडो के सत्सग से लौटकर/मौसम के सामूहिक कीर्तन मे/

हिल रहे थे—पेड', सरीखे अर्थहीन शब्दसमूह जन्म लेते है और आदमी सोचता है कि ठीक-ठाक भाषा लिखने वाले इस कवि को अचानक यह क्या हो जाता है।

जगूडी के शिल्प मे एक और चीज है जो उनसे सहानुभूति रखने वाले पाठक को 'एलिएनेट' कर सकती है और वह है उनका बेवजह पूर्णविराम तथा बडे डैश का प्रयोग। क्या वे यह चाहते हैं कि जहा वे पूर्णविराम का प्रयोग करते हैं वहा पाठक रुकें? पूर्णविराम या बड़े डैश का इस्तेमाल कवि की 'मस्ती' या 'फक्कडपन' से नही समझाया जा सकता। यदि जगूडी के पूर्णविराम के अनुसार रुककर पढा जाये तो उनकी अधिकाश कविताए हास्यास्पद भी हो जाएगी। वैसे विराम-चिह्न, डैश, प्रश्नवाचक चिह्न, बिंदु, अजीबोगरीब टाइप, तथा ऊल-जलूल पंक्ति-सयोजन से 'कविता' बनाने का युग जाता रहा, यह प्रत्येक जिम्मेदार कवि को जानना चाहिए। कविता जो कुछ कहना चाहती है उसके लिए (इस जमाने मे भी) केवल शब्द दूर तक कारगर हैं और जगूडी के पास सही चीजें कहने के लिए सही शब्दो का टोटा नही है।

नए हाथ

पेड़
नदिया कही भी नागरिक नही होती
और पानी मे ज्यादा कठोर और काटने वाला
कोई दूसरा औजार नही होता
फिर भी जो इस भयकर बाढ मे अपनी बगलो तक
डूब कर खडा रहा
वह अतीत के जबडे से छीन कर
अपने टूटे हाथो को फिर से उगा रहा है
इस सपाट जगह के बाद उस कोने पर
जहा डाल बायी ओर के अधेरे मे पड गया
मुझे कुर्सी से उठकर उससे मिलना चाहिये
अब पडोसियो के कार्यक्रम से
समय का पता लगना मुश्किल हो गया है
क्योकि मेरे आने का वक्त चला गया
और मेरे जाने के कई वक्त मौजूद है
मुझे उससे जरूर मिल लेना चाहिए
वह जहा पर जमा वही पर उगा
वही पर लपक कर फैला
उसने वही पर पकडी रोशनी
और हवा को उसने दूर-दूर तक प्रभावित किया
वह कही भी अपने खिलाफ नही है
शाम को अपना चेहरा बाजार से
ज्यो का त्यो वापस लाने के बाद

आराम करने के लिए या पाने के लिए
उसके पूर्वजो के मरोडे हुए हिस्सो पर
आकर बैठना
किसी ऐसे छिले हुए आदमी पर बैठना है
जो मरते वक्त उकड़ू बैठा हुआ था

कुर्सी के हत्थो पर कोहनिया टेकते हुए
मुझे लगता है
कि कारीगर के घुटनो पर जोर पड रहा है
अब मुझे उठ ही जाना चाहिए
सोचते हुए अपने मरण और शील को दबोचते हुए
मैं उसके लिए निहत्था उठता हू
लेकिन मृतको की सख्या पर छाया छोडती हुई चीजें
मुझे अपने ऊनी कोट की रक्षा के लिए प्रेरित करती हैं
क्योकि मेरे कधे पैड के बिना अधूरे है

जो पतगो के दिमाग को
अपने लिए उपजाऊ बना रहा है
जो अपनी खाल को कोट की तरह पहने हुए है
मुझे उससे मिलते हुए यह नही भूलना चाहिए
कि मैं आधा तो अपने ही कमरे की खूटियो पर टगा हुआ हू

मेरे और धरती के बीच
हमेशा एक चमडे का टुकडा है
जबकि वह पूरा का पूरा उसी मे खडा है

अपनी दवा के लिए अपने ही शरीर मे बार बार
पानी उबालते रहने से अच्छा
मैं आज उससे पहचान कर लू
जिसमे कही न कही से
समय जगल की तरह घुस गया है

मुझे उससे मिलते हुए यह भी नही भूलना चाहिए
कि यह सारा नगर उसके पूर्वजो का आधा सहयोग है
और अपने आदर्शों को जाने बिना
वह जमीन को अकेले पटा रहा है

उसकी जडो के साथ भीतर
दो चार और जडें आकर फस गयी हैं
मुझे जानना चाहिए कि वह अब किस तरह हिल रहा है
ऊपर के सार्वजनिक अधकार मे
उसके तजुर्बे कितने हरे हैं

बजर इलाके को अधेरे मे खाते हुए
समूचे ढाल को टूटने से बचाते हुए
ऋतु के खिलाफ
पडोस के व्यवहार को तने पर झेल कर
करुणा को खुरदरी खाल के नीचे दौडाते हुए
वह अपनी रुचि के लिए
युद्ध और इतजार मे नगा खडा है

अपने सारे शरीर को कारखाने की तरह सभाले हुए
टहनियो को बंदूको की तरह ताने हुए
उसने अपनी जडो को फौजी कतारो की तरह बट कर
मिट्टी की तबियत पर मोर्चा बाध दिया है

अपने अधकार से
अपनी ऊचाई का निर्णय करते हुए
उसके पत्ते उपदेश नही हैं
वे जीवित शब्द हैं
जिन्हें वह भीतर के अधकार से
बाहर लाया है
(उनकी शक्ल समाचारो की शक्ल नही है)

एक और भ्रमण की जर्जरता से पहले
वह बरफ मे नहायेगा
उसने अपना व्यक्तिगत जन्म लिया है
वह केवल प्रतीक के रूप मे नही उगा

अगली लडाई के लिए मौसम की जासूसी मे
वह अपने गोरिल्ला ससार को
तहखाने मे तैयार कर रहा है
विषाद और अनुभव के शब्दग्रस्त
पत्तो को गिराते हुए

उसकी आखो मे अनेक इच्छाओ के
कोमल सिर है
जिन्हे जब वह निकालेगा
तो बचपन की मस्ती मे
हवा, रोशनी और सारे आकाश को
दूध की तरह पी जायेगा
वह कोशिश कर रहा है कि एक ही हफ्ते मे
जिंदगी को महलके की तरह मथा दे

आओ, और मुझे सिर ऊचा किये हुए
उससे ज्यादा जूझता हुआ
उससे ज्यादा आत्मनिर्भर
कोई आदमी बताओ
जो अपनी जड़ें फैला कर
मिट्टी को खराब होने से बचा रहा हो।

लीलाधर जगूडी की इस कविता 'पेड' के दूसरे चरण के पहले दो शब्द महत्वपूर्ण हैं फिर भी'। ये दो शब्द 'पेड' कविता मे पेड के जीवन-दर्शन, उसके सघर्ष और उसके अस्तित्व के रहस्य को समझाने मे सहायक हैं। जब भी हम 'फिर भी' का प्रयोग करते है, हमारे मस्तिष्क मे दो साफ स्थितिया रहती है—पहली कठिनाई की, असुविधा की, विवशता की, शायद किसी कमी की, और दूसरी ओर उन पर विजय पाने के प्रयत्न की, ऐसी किसी इच्छा की, सकल्प की, सभावना की अथवा सिर्फ आशा की। जगूडी के 'पेड' के चारा ओर कभी अनागरिक 'नदी' थी, असभ्य, वन्य, जिसके पास पानी जैसा निर्मम हथियार था फिर भी

जो व्यक्ति इस कविता पर उदबोधनात्मक होने का आरोप लगाएगे, उन्हे यह दूसरे चरण मे ही साफ हो जाना चाहिए कि यह उसके अलावा कुछ हो ही नही सकती थी। दरअसल, प्रकृति के पास जाना ही एक उद्बोधक स्थिति है। देखा जाय तो प्रकृति हमेशा से हमारे सर्वश्रेष्ठ (और निकृष्टतम भी) काव्य की प्रेरणा रही है। किंतु जो उद्बोधनात्मक कविताओ मे बचते है वे यह भूलते हैं कि सारी कविता ही उस तरह की होती है। बच्चो की लोरी, आदिवासियो के गीत, फिल्मी गाने और महाकाव्य—अपनी-अपनी जीवन और शक्ति के अनुपात मे सभी उद्बोधनात्मक होते है। ससार म ऐसे महान् कवि खोज पाना मुश्किल है जो तथाकथित 'शुद्ध कवि' रहे हों। शुद्ध कवि हिम-मानव है,

फर्क यही है कि हिम-मानव शायद मिल भी सकता है।

मैं जगूड़ी को महाकवि सिद्ध करने का आत्मघाती बीड़ा नहीं उठा रहा हूं। उद्‌बोधनात्मक कविता को पहले कविता होना चाहिए। अक्सर धर्म-ग्रंथ कविता में लिखे गए हैं, क्या वजह है कुछ ही कविता या साहित्य के रूप में पढ़े जाते हैं? केवल उद्‌बोधनात्मक होने से ही पंक्तियां कविता नहीं बन जाएंगी किंतु कोई कविता यदि कविता भी है तो उद्‌बोधनों से नफरत करने वाला भी उसे पढ़ सकता है। हममें से कितने लोग 'रामचरित मानस', 'महाभारत' या 'बाइबिल' नसीहतों के लिए पढ़ते हैं?

फिर थोड़ा फर्क उद्‌बोधनात्मक और उपदेशात्मक कविता के बीच भी करना चाहिए। व्याख्या में जाना व्यर्थ है, किंतु मैं एलियट, ह्विटमैन, येट्स, निराला और मुक्तिबोध को उद्‌बोधन का कवि मानता हूं और ड्राइडन, पोप, किप्लिंग, उत्तर-टेनीसन, प्रगतिशील-परिवार, पंत, मैथिलीशरण और अज्ञेय को उपदेश का। जगूड़ी की इसी कविता की ये पंक्तियां शायद उद्‌बोधन के कवि के लिए ही हैं "अपने अंधकार से/अपनी ऊंचाई का निर्णय करते हुए/उसके पत्ते उपदेश नहीं हैं/वे जीवित शब्द हैं/जिन्हें वह भीतर के अंधकार से बाहर लाया है/(उनकी शक्ल समाचारों की शक्ल नहीं है)"।

उद्‌बोधन की कविता अनेक स्थितियों से प्रेरित हो सकती है, किंतु सबसे अधिक सुविधाजनक शायद 'आमने-सामने' की स्थिति होती है—यानी कवि अपने सम्मुख किसी वस्तु की उपस्थिति महसूस करे और उस पर प्रतिक्रिया दे। कवि के वह होने पर जो कि वह सोचता है कि वह है, और उस दूसरी वस्तु के वह होने पर जो कवि सोचता है कि श्रेष्ठतर वह है—इन दोनों के तनाव से ही उद्‌बोधन की कविता जन्म लेती है।

इस कविता में 'उस' और 'मुझ' के बीच तनाव की स्थिति शीघ्र ही दिखाई देती है। कवि को अपने इरादे स्पष्ट करने की जल्दी है। वह बात को लंबी करने से शायद खीझता है। रघुवीर सहाय के विरुद्ध, वह साफ कहना चाहता है, 'प्रिय पाठको, यह प्रतीक है, पेड़ नहीं/और यह 'मैं' भी प्रतीक हूं और नहीं भी।' किंतु इरादों को स्पष्ट करने की जल्दबाजी में कवि अपनी कविता के प्रारंभ में क्या कहे, कितना कहे, में संतुलन रखना भूल गया। 'मुझे कुर्सी से उठकर उससे मिलना चाहिए' से मुझे कोई एतराज नहीं लेकिन इसके बाद की चार पंक्तियों में यदि मुझे कोई अर्थ बता भी दे तो भी मैं उन्हें अना-वश्यक तो कहूंगा ही।

कवि 'पेड़' से जरूर मिल लेने की बात कर रहा है। वह उसकी अविचलता, जहां बढ़ा वहीं से हवा को दूर तक प्रभावित करने की सिफअत और कहीं भी अपने विरुद्ध न होने के स्वस्थ आत्मविश्वास से आकृष्ट है। लेकिन किस्सा

इतना ही नही है । वह कही इस अपराधभाव से भी दबा हुआ है कि जिन चीजो पर वह बैठता उठता रहा है बल्कि दरअसल यह सारी नगरी भी पेड के पूवजो के सहयोग से ही बनी है । कविता म इस स्थल पर पेड सिफ पेड न रहकर समूची प्रकृति का प्रतीक हो जाता है और जगूडी की इस कविता को लोग पसद करें या न करें मुझ हिंदी कविता मे प्रकृति के प्रति इतने ऋणी होते हुए भी इतने कृतघ्न होने का एहसास दिलाने वाली और कोई पक्ति याद नही आ रही है (यहां मैं स्वीकार करना चाहता हू कि मेरी स्मरण शक्ति कमजोर है) जो बात को इतने साफ बेलाग ढग से कहे । टी वी टुट टुट और कलकल मरमर से यहा तक की यात्रा बहुत लबी है और बहुत निमम ।

किंतु कविता की बत्तीसवी पक्ति से एकतालीसवी पक्ति के बीच कवि शब्दों और मुहावरो के फर म पड गया और समसामयिक हिंदी कविता के कतिपय क्षयिष्णु पहलुओ के अवनेप उसम बोलने लगे । लेकिन मृतका की सख्या पर छाया छोडती हुई चीजें/मुझ अपने ऊनी कोट की रक्षा के लिए प्रेरित करती है/क्योकि मेरे कध पेड के बिना अधूरे है सरीखी पक्तिया निरथक शब्दो का चतुर सचालन मात्र है कविता के मूल ढाचे मे उनकी कोई आवश्यकता नही है ।

यह ठीक है कि धरती और पेड के बीच सीधा आत्मीय और गहरा सपक है किंतु इसकी प्रतिक्रिया मे मेरे और धरती के बीच हमेशा एक चमडे का टुकडा है एक अतिरजित वक्तव्य है जिसका यही अथ हो सकता है ज म स लेकर अब तक कवि हर समय यहा तक कि सोते हुए भी जूते पहने रहता है । रवीद्रनाथ की कहानी जूते का आविष्कार की याद आती है सो अलग ।

कविता के विषय स तो स्पष्ट है ही जगूडी के शब्द चयन शिल्प और बिंबहीनता से भी जाहिर होता है कि कवि अब अपनी कविता मे कुछ परिवतन लाना चाहता है । अब मुझे उठ ही जाना चाहिए'/ मैं आज उससे पहचान कर लू / मुझ जानना चाहिए आदि सकल्पो से स्पष्ट है कि जगूडी के कवि ने कुछ निश्चित किया है और निश्चय यात्रा का एक पडाव पेड तक पहुचना है। वह जानता है कि मुझ उससे मिलते हुए यह नही भूलना चाहिए/कि मैं आधा तो अपने ही कमरे की खूटियो पर टगा हुआ हू । कवि यह समझ रहा है कि पूरी तरह से अपनी पूव स्थिति स मुक्त होना कठिन है और यही वह अचकचाहट है जो कविता के पूर्वार्द्ध म उससे वही गलतिया कराती है जो आज की अधिकाश कविता की दुर्भाग्य रेखा बन गयी हैं ।

किंतु जगूडी की कविता मे यह सक्रमणकालीन अचकचाहट वही तक है जहा उसका कवि पेड के बरक्स स्वय पर सोचता है । दरअसल प्रारभिक पता लीस पक्तिया ऐसी हैं जिनमे कुछ अच्छी पक्तिया हैं अवश्य किंतु पुरानी

कविताओं की पुरानी आदतों के तकाजे कवि को असगत पक्तियां ढालते रहने को बाध्य करते रहे। यह शायद इसीलिए कि इन पक्तियों तक कवि का पुराना और नया 'पर्सोना' अपनी जगह निश्चित करना चाहता है, बदले हुए इरादों के दर्म्यान अपने को परिभाषित करना चाहता है। जैसे ही यह हो चुकता है और बारी पेड़ की आती है, कविता सरल, सुगम होती जाती है। पेड़ रक्षक हो जाता है। वह युद्ध भी कर रहा है और प्रतीक्षा भी। पेड़ के आतरिक शरीर-शास्त्र को कारखाने की उपमा देना बहुत उपयुक्त लगा और टहनियों को बदूक और जड़ों को फौजी कतार कहने का भी औचित्य है।

मुझे इस बात का अतिरिक्त हर्ष है कि जगूड़ी की यह कविता बेशर्म आशावाद की कविता नहीं है और पेड़ के जीवन को, जब तक वह जीवित रह सकता है, 'सेलेब्रेट' करने की कविता है। यह जगूड़ी की शिल्प और कथ्य दोनों के प्रति जागरूकता का प्रमाण है। पेड़ 'युद्ध और इतजार मे नगा खड़ा है' और स्पष्ट है कि इतजार किसका है। 'वह बरफ मे नहाएगा' क्योंकि उसे 'एक और भ्रमण की जर्जरता' का पता है। वह सब्जबाग नहीं खिलाता, 'विषाद और अनुभव के शब्दग्रस्त पत्तों को' गिरा रहा है। वह कोशिश कर रहा है कि 'एक ही हफ्ते मे जिंदगी को तहलके की तरह मचा दे' क्योंकि उसके गैरिल्ला ससार मे जीवन न अधिक है और न 'गारटीड'। स्थिति का उसका अकन वास्तविकतावादी है किंतु 'उसकी आखो मे अनेक इच्छाओं के कोमल सिर' भी हैं। ऐसी पक्तियां जगूड़ी को वर्ड्सवर्थ-विवर और पत-पतन से बचाती हैं।

यहां आकर इस सभावना से नहीं बचा जा सकता कि कहीं कवि पेड़ के जरिए खुद को तो नहीं देख रहा है? और धीरे-धीरे यह देखा जा सकता है कि कविता ने जब 'मैं' का परित्याग किया तो केवल 'पेड़' को 'पेड़+मैं' बनाने के लिए। सारी कविता पेड़ के सघर्षरत, और साथ ही सृजनरत, रहने की है। पहले कवि उसके सघर्षशील पहलू से आकृष्ट होता है और स्वय से लज्जित, किंतु इस शर्मिंदगी मे तपकर जब वह 'शुद्ध' होता है तो पेड़ से साधर्म्य स्थापित कर पाता है और फिर हम 'अपनी रुचि के लिए युद्ध और इतजार मे खड़े होने', 'एक और भ्रमण की जर्जरता से पहले बरफ मे नहाने', 'अगली लड़ाई', 'विषाद और अनुभव के शब्दग्रस्त पत्तों' के नये अर्थ लगाकर प्रसन्न हो सकते हैं—कविता के अतिम चरण की अप्रत्याशित, अरुचिकर, तात्पर्यवादी बयानबाजी के बावजूद। हमें मालूम है कि आखिर वे ऐसे कवि की पक्तियां हैं, जो 'अतीत के जबड़े से छीन कर/अपने टूटे हाथों को फिर से उगा रहा है।'

सड़क से हटकर चलते हुए

जो लोग पिछले बीस-पच्चीस वर्षों से हिंदी कविता मे सबध बनाये हुए हैं, जिसमे उसका पढना, लिखना या उस पर लिखना तीनो शामिल हैं, उन पर अन्य बातो के अलावा एक दुखद अहसास धीरे-धीरे खुला होगा कि हिंदी कवियो और कविता मे नयापन, ताजगी, परस्पर भिन्नता, अलगपन कितने कम हैं। हिंदी कविता के पिछले आठ दशको के इतिहास मे अच्छे और परस्पर अलग तरह के कवि नही हुए ऐसा नही है, लेकिन भारत जैसे जटिल राष्ट्र, अस्सी वर्षों के लम्बे अरसे और करोडो लोगों द्वारा बोली जाने वाली भाषा—क्या इनके होते हुए कुल इतनी तरह की ही कविता—इतने ही तरह के अच्छे कवि होने चाहिए थे जितने कि हैं ? दयनीय और हास्यास्पद यह है कि पिछले बीस वर्षों मे कविता पर नाना प्रकार के लेबल लगाये गये, लेकिन स्थिति वही 'ट्वीडिलडम-ट्वीडिलडी' या कहे कि 'हम्प्टी-डम्प्टी' वाली रही। अब तो हाल यह है कि यदि असल कवि दस हैं तो उनके जैसी किंतु खराब कविता लिखने वाले सौ हैं। एक अच्छे कवि और पर्याप्त अच्छी कविता के लिए वर्षों की कष्टदायक प्रतीक्षा करनी पड़ती है।

यह पहले ही साफ कर देना चाहिए कि अलग तरह की कविता से मेरी मुराद प्रगति-विरोधी, मानवद्रोही, व्यक्तिवादी अथवा कलावादी कविता नही है। लेकिन 'प्रतिबद्धता' और 'जनवाद' आदि का एक ऐसा मतिमद सस्करण हमारे यहा चल गया है—हमारे अधिकाश तथाकथित जनवादी-प्रगतिवादी आलोचक तथा कवि इतने विवेकहीन है—जिसके अतर्गत यह मान लिया गया है कि सिर्फ एक दो तरह की कविता ही पक्षधर होती है, बाकी सब रूपवाद-कलावाद होता है। सहसा विश्वास नही होता कि क्या हिंदी का समीक्षक बौद्धिकता की बात तो दूर रही, जानकारी के स्तर पर भी इतना दीवालिया है—दुनिया मे कविता

और आलोचना कहां-से-कहां पहुंच चुकी है क्या उसे वाकई इसका थोड़ा-सा भी पता नही है ? जिन समाजवादी देशो के हवाले देना हुआ वह नही अघाता—क्या वहा की ही समसामयिक कविता और समीक्षा से उसका कोई वास्ता है ? इस समय जब वहा प्रच्छन्न क्षमायाचना तथा सलज्ज भूलसुधार और पुनर्प्रतिष्ठा का स्वागत्य दौर चल रहा है, हमारे यहां जैसे फिर मीयादी बर्बरो का पदार्पण है ।

इस बात से किसी को असहमति नही हो सकती कि नयापन या अलगपन अपने-आप मे कोई मूल्य नही है । वह फैशन भी हो सकता है और विद्रूपकता भी । आधुनिक, नये और प्रयोगात्मक के नाम पर हिंदी मे अधिकाशत स्वाग, नटैती या निरीह या सायास बुद्धिविरोध हुए हैं । लोग नये का अर्थ पश्चिम की नकल पर या तो ऊटपटाग शिल्प ले बैठे या एक हास्यास्पद साहसिकता । जिस तरह कुछ नृशस तमाशा दिखाने वाले चार पैरो वाली गाय पर एक पाचवी टाग और सी देते हैं और भोले-भाले लोगो को ठगते हैं कुछ इसी तरह आधुनिकता और नयापन हिंदी की वध्य गाय पर 'ग्रैफ्ट' किये गये । लेकिन असली नयापन मानवीय सहानुभूति तथा परपरा की पुख्ता जमीन पर खड़ा हुआ अनुभव और दृष्टि का नयापन है, वह शब्दो, पक्तियां, तुकों, छदों, पक्तियो, टाइप-फैसो या विचारो के साथ बलात्कार से पैदा नही होता । नयापन, ताजगी, अनूठापन, अपना अलग व्यक्तित्व, नये को पुराने और पुराने को नये—यानी आज के मायनो मे सही—ढग से देखने मे भी है नितात अछूते अनुभवो के मानवता-समर्थक आकलन मे तो वह है ही। अब यह है कि नये अनुभव रोज नही होते, कभी-कभी ही होते हैं और तब भी एकाध बार पता नही चल पाता कि इनमे सार्थक नया क्या है । नये अनुभवो की सायास खोज अध्याशी, अनैतिकता, भ्राति और मरीचिका भी हो सकती है । कलाओ मे किसी भी तरह की नूतनता, आधुनिकता या प्रयोगात्मकता एक व्यापक नैतिक तथा सामाजिक प्रतिबद्धता की परपरा का हिस्सा होनी चाहिए वरना वह 'शुद्ध आत्माभिव्यक्ति' रूपी वन्ध्या विलासिता होकर रह जायेगी, जो फासीवाद के महाप्रयाण की ओर बढा पहला चरण है ।

हर्ष की बात है कि कविता के लिए बुरे-से-बुरे दौर मे भी—जिसमे कविता के नाम पर ही कविता पर सारे अत्याचार किये जाते हैं—प्रतिभा कुठित होने का नाम नहीं लेती और अभिव्यक्ति से बाज नही आती । साथ-ही-साथ उसे पहचान पाने वालो का भी अभाव नही रहता—उसके विरोधी तो उसे फौरन पहचान लेते हैं और उसका विरोध, बहिष्कार या मौन अवहेलना होने लगती है । इधर एक नया पाखड भी देखने मे आया है—व्यक्तिगत बातचीत या दो-तीन व्यक्तियो के बहस-मुबाहिसे मे अधिकाश युवा कवि तथा आलोचक कई ऐसे

कवियो को कवि मान लेते हैं जो उनकी अनुमोदित सूची मे नही आते, लेकिन जैसे ही साहित्य-सुधी या कर्णधार बनकर वे अपने मचो पर पहुचते हैं, इन खनरनाक रूपवादी-कलावादियो की खबर लेने लगते है।

विनोद भारद्वाज का विरोध, बहिष्कार या उपेक्षा हुई या नही, उन्हे रूपवादी-कलावादी कहा गया या नही—यह अप्रासगिक है, जो महत्वपूर्ण है वह यह है कि वे हिंदी के उन इने-गिने युवा कवियो मे हैं जिन्हे सौभाग्यवश किसी भी भीड या गिरोह मे शामिल नही किया जा सकता। यह गुण कुछ तो कवि की विवशता होता है और कुछ वरण—कुछ तो उसकी प्रतिभा का मौलिक स्वभाव होता है और कुछ स्वय प्रतिभा उसे परिमार्जित तथा पुष्ट करती है। इसके खतरो और जोखिमो की ओर ऊपर सकेत किया ही गया है। विनोद भारद्वाज पिछले सोलह-अठारह वर्षों से कविताए लिख रहे हैं, यद्यपि उनकी ज्यादातर कविताए पिछले आठ दस वर्षों की हैं। सबसे पहले मैंने उनकी कविता उन्ही के द्वारा सपादित, हिंदी मे ऐतिहासिक महत्त्व रखने वाली लघु पत्रिका 'आरभ' मे पढी थी—'लखनऊ की पीली बस में नही भी हो सकती कविता'—और हालाकि मुझे वह न तो तब बहुत अच्छी लगी थी और न अब सकलन मे प्रकाशित होने पर ही, लेकिन १९६७-६८ या उससे कुछ पहले लिखी गयी इस कविता मे ही यह साफ था कि यह कवि अलग है या अलग होना चाहता है—कुछ-एक प्रभावो के बावजूद—क्योंकि यह नही भूलना चाहिए कि वह समय एक तरफ अकविता के अतिम दौर और दूसरी तरफ धूमिल और धूमिल से प्रभावित कविता के उत्कर्ष का दौर था और उस समय यह मुहावरा 'लड़के' ने कहा/कुछ खास उसने नही कहा/या फिर भी उसने कहा कि मैं इजी-नियर/बनूगा, छोडो, यार, तुम जैसा कौन बनेगा/लप्पू झन्ना।।' या 'तुम *जचते नहीं इस तरह' 'हेमा ने कहा था/याद आया/मैं हसा' '/किस तरह* बच पायेगी हेमा/सुकुमार पल्लव से शादी के बाद/मा बनने के बाद/कुल्फी खाने से पहले की शॉपिंग करते हुए' एक सकेत था कि कुछ कच्चा, अटपटा ही सही, अतिम पक्तियो मे श्रीकात वर्मा का थोडा-सा असर भी सही, लेकिन कवि अपने अनुभव अपनी भाषा मे अपनी तरह कहना चाह रहा है।

'जलता मकान' १९८० मे प्रकाशित हुआ था और तब वह तैंतीसवें वर्ष मे प्रवेश करते हुए कवि की पिछले बारह वर्षों मे लिखी गयी तेंतीस कविताओ का सकलन था। हम यह नही जानते कि कवि ने लिखा ही कम या उसकी कविताओ का चुनाव था *निर्मम*—दोनो ही *स्थितिया सुखदायक* हैं लेकिन चालू युवा कविता से गायब हैं। वैसे बहुत कम लिखना भी कभी-कभी कवि के लिए नुकसानदेह हो सकता है—एक स्थूल हानि तो यही है कि उस पर फिर पाठको और समीक्षको का ध्यान लगातार नही रहता, लेकिन जो ज्यादा घातक

है वह यह है कि उसकी अपनी शक्तियों के व्यर्थ ही चुकते जाने—हथियार भोथरे होते जाने का अंदेशा रहता है। वैसे तो अंत में किसी भी अच्छे कवि की ख्याति उसकी पंद्रह-बीस कविताओं पर ही टिकती है लेकिन उसके लिए —उस गुणवत्ता को उपलब्ध करने के लिए—लिखना उससे कहीं ज्यादा पड़ता है। जीवन के अन्य अंगों की तरह सर्जनात्मकता में भी समय-विवेक (सेंस ऑफ टाईमिंग, जो कि अवसरवाद नहीं है) का बड़ा महत्त्व है और इस दौर में, जबकि अधिकांश युवा कवियों के संकलन समय से कई वर्ष पूर्व आ गये हैं—बल्कि उनमें से कुछ को तो कभी नहीं आना चाहिए था—विनोद भारद्वाज का यह बाकायदा संकलन यदि कुछ देर से नहीं तो बस बिल्कुल सही समय पर ही आया है।

सही इसलिए कि एक विशेष प्रकार की काव्यस्फीति के इन वर्षों में यह संकलन एक असहमति की तरह, उस तरह की कविता की आलोचना के रूप में, आया है। कोई भी अच्छा कविता-संकलन अपने दौर की खराब कविता और पिछले दौर की पुरानी कविता पर एक सर्जनात्मक टिप्पणी भी होता है। विनोद भारद्वाज की ये कविताएं अपनी समकालीन अधिकांश कविता पर बड़ी मितभाषिता में टिप्पणी करती हैं—उनका स्वर इतना मद्र लगता है, शौर्य और पराक्रम से बहुत दूर, इतना संकोचमय और लगभग 'डिफेंसिव'-सा कि उसे गलत समझ लिया जाना भी संभव है। बंबइया फिल्म और अधिकांश समसामयिक हिंदी कविता में अद्भुत साम्य है—दोनों के बने-बनाए फार्मूले हैं, मसाले हैं, दोनों तरफ बहुत लफ्फाजी, बहुत ढिशुग-ढिशुग, बहुत क्रांति है, आखिरी रील में इत्तेहाद और इन्किलाब ले आकर दिखा देने वाले, सुचिक्कण तथा मसृण प्रजावधू अमिताभ बच्चन हैं और इन सबके मदारी और बाजीगर मनमोहन देसाई तथा रमेश सिप्पी हैं। लेकिन जिस तरह सिनेमास्कोप, रंगीन, दहाड़ते हुए इस दैत्य के सामने सही फिल्में डटी हुई हैं, उसी तरह आग उगलने वाले तमाम कागजी अजदहों के सामने काम की कविता टिकी हुई है और उसी में आज के भारतीय आदमी की समझ और उसके तथा समय के बदलाव के बीज छिपे हुए हैं। जो लोग चालू कविता की घुघचियों को अंगारे समझ बैठे हैं और जो ऐसा समझाने की साजिश में लगे हुए हैं वे विनोद भारद्वाज की इन कविताओं से परेशान होंगे, पशोपेश में पड़ जायेंगे, फिर उनकी नयी जमीन, विषय वस्तु, बात को कहने के अपने तरीके, ऐसे अनेक पहलू जो हिंदी कविता में पहले नहीं आये थे तथा अपनी अलग अस्मिता के कारण उनके प्रति शंकालु ही नहीं, वरन् शायद कुपित भी हो जायेंगे।

विनोद भारद्वाज की कविताओं का नयापन और ताजगी इस मायने में भी है कि हिंदी कविता में शायद पहली बार किसी युवा कवि ने स्वीकार किया

है कि उसकी जड़ें गाव या कस्बे मे न होकर एक बड़े शहर मे हैं, उसकी दुनिया नये ढग के स्कूलो, कालेजो, बसो, रेस्तराओ, होटलो, दोस्तों, और भी बड़े शहरो, लड़कियो, प्रेम-प्रसगो, कुण्ठाओ, पराजयो तथा छोटी-मोटी विजयो की दुनिया भी है। इस कविता पर वह मूर्खतापूर्ण शब्द 'नगरबोध' नहीं लादा जा सकता और न यह कविता 'भारतीय जीवन' से कटी हुई है। भारतीय जीवन का सघर्ष बहुमुखी है—वह गावो, खेतो, कस्बो, मिलो, फैक्ट्रियों मे भी छिड़ा हुआ है और बड़े शहरो मे भी—उसे सर्वहारा के साथ-साथ और भी लाखो लोग लड़ रहे हैं जो किसी भी तरह शोषक वर्ग के साथ नही रखे जा सकते। इस सघर्ष को मजदूरो, किसानो, 'व्हाइट कालर', बुद्धिजीवी आदि के वर्गों में इस नीयत से बाटना कि इस तरह विभिन्न शोषित वर्गों को या उनसे गहरी एका-त्मता रखने वालो को एक-दूसरे के विरुद्ध खड़ा किया जा सके कुत्सित वर्गवाद है और लड़ाई को गहरा नुकसान पहुचाना है। विनोद भारद्वाज की कविताओ मे दूसरा भारत बहुत चुपचाप ढग से प्रवेश करता है। 'लड़के सुबह का वक्त इसी पसद है/कुछ जरूरी यादें, पेड़, जगल, गन्ने के खेत/दिमाग में घूम जाते हैं ''अम्मा जी गुड़ की गरम चाय उसम/बेरहमी से उड़ेल न दें' (इच्छा), 'तुम पकड़े जाओगे/तुम भूल जाना चाहोगे उस गदी बस्ती मे/छोटे दरवाजे वाले मकानो को' (तिलास), 'खाली पीठ पर दो गाव की दूरी/से एक पूरा बोरा/लादकर लाने वाले हमारे नानाजी/माथे पर से पसीने को/झटकते हैं'''' नानाजी को हमने रोते भी देखा है'''उनकी आखो से आसू हमने देखे है/पुराने गुड़ की भेली की तरह सख्त/और काला उनका चेहरा पर डबडबायी आखें' (चद्रमा की कहानियां)। इस दुनिया का, जहा से हमारे पूर्वज शहरो मे आये थे एहसास विनोद भारद्वाज की कविताओ मे है। वे इस 'माइग्रेशन' को जानते हैं लेकिन वह अब पीछे छूट गया है। हिंदी युवा कवियो मे वे शायद एकमात्र हैं जिन्होंने अपने निम्न मध्यवर्ग या मध्य मध्यवर्ग के होने को स्वीकार किया है और उसकी कुण्ठाओ, वर्जनाओ, अभिलाषाओ और महत्त्वाकाक्षाओ को पह-चाना है और यह पहचान बहुत क्रूर और जर्राह जैसे पैनेपन से हुई है। 'आग लगी की प्रतीत के बाद जहा तुम खड़े हो/प्रयोगशाला मे उस डरे हुए चूहे को/हाथ में लेकर देखो/हिड्डियां सिर्फ चुभती चली जाएगी/वह सामने मेज पर रेफ्रिजरेटर की सफेद रोशनी मे/वे चूहे देखे जा सकते हैं' 'दुनिया शायद ज्यादा नहीं बदली/एक अभी कुछ मकान बन रहे हैं' (तिलास), 'अस्पताल के सन्नाटे मे/सब आपरेशन की है/औजारतैयार है/मेज पर सब साफ करके रख दिये है साहब मेरी बख्शीश है/तुम से शपथ सर लिए/सहमे अपने बच्चे से मैं कुछ नहीं पूछता/उस अफरातफरी भीड़ वाली बस मे/किसी तरह से उसे साबुन बचाकर लिए आने की कोशिश करता हूं' (औजार)। यह पूरी कविता कुण्ठा या जख्म

की ये पक्तिया 'सुई है कि हर बार गलत नस मे/घस जाती है/ताकतवर आदमियो की एक पूरी भीड/दिखाते हुए/किसी मरियल कुत्ते के जिदा रहने पर।' 'आश्विन जिदगी' साफ दिखाती है कि कवि के सामने इस जीवन की सारी कलई खुली हुई है। जो चीज ज्यादा महत्त्वपूर्ण है वह यह है कि इनमे स्वपीडक प्रदर्शनवाद नही है, चीजो का ज्यो-का-त्यो रख देना भर है।

'व्यक्तित्व-विकास' या 'प्रगति' के कुछ बहुत सूक्ष्म चित्र विनोद भारद्वाज के यहा है। इनमे 'गिलास', 'औजार', 'जादू' और 'कुण्ठा' तो स्वय कवि के बदलने पर है और कुछ घरो, शहरो, स्थितियो, सबधो और व्यक्तियो के बदलने की कविताए है। परिवर्तन, विकास, प्रगति हमेशा कवियो को आकृष्ट करते है और उन पर समझ और व्यग्य की सतुलित निगाह रख पाना बहुत कठिन है, लेकिन 'चिल्लर' म विनोद भारद्वाज शब्दो और शिल्प के विरले नियत्रण के साथ एक पूरी 'मैटामार्फासिस' प्राप्त कर सके हैं—यह लडका या लौंडा जो कुछ दिनो पहले चाय-बिस्किट सामने रख जाता था, एक दिन आपसे बेतकल्लुफ, दोस्ताना ढग से हाथ मिलाता है और सौ का नोट तुडाने की जल्दी मे निकल जाता है। क्या हमारे देखते-देखते ऐसे कीमियो लडके सौ का नोट तुडवाने की जल्दबाजी मे नही फस गय—या सिर्फ हम ही तो उसे जल्दबाजी नही समझ रहे हैं ? इस 'बदलाव' का एक दूसरा ही पहलू 'बकैत' मे है जहा पिछले दिनो के चाकूबाज, छैला, किरने लौंडा का गाल काटने वाले रम्मू बकैत न सिर्फ सचिवालय मे बाबू हो गय हैं बल्कि जिम्मेदार हो गये हैं, भतीजी की शादी के पडाल मे मेहनत करते हुए हलाकान हो रह है और मेहमानो के स्वागत में दुहरे हुए जा रहे है—गुडई से गृहस्थी का यह विकास 'लो कामेडी' तो है ही, एक छोटी-सी त्रासदी भी है।

वडे शहरो के मध्यवर्ग मे किशोर-किशोरियो या युवक-युवतियो की मानसिकता, परस्पर व्यवहार तथा सबधो की जो पकड विनोद भारद्वाज के पास है उसका लेशमात्र अहसास भी उनके समवयस्क, उनसे युवतर तथा उनसे प्रौढ किसी भी कवि के पास नजर नही आता। इस दुनिया मे ये युवक-युवतिया मित्र-मडलियो क रूप म एक साथ उठते-बैठते है, इनकी दोस्तिया बनती-बिगडती है, सबध गहरे होते है और टूटते है। मध्यवर्ग की नकली नैतिकता, मूल्य-व्यवस्था, उसकी मौलिक असुरक्षा, नकली वहमें, उसकी 'वल्नरेबिलिटी', उसका भय, उसके राग, 'न्यूरोसिस', 'हिस्टीरिया', 'स्किजोफ्रेनिया', 'पर्सिक्यूशन मेनिया', आदि का क्लिनिकल वर्णन नही, बल्कि कविता की शर्तें निबाहते हुए ऐसा आकलन अन्यत्र दुर्लभ है 'क्या लौटकर अभी वह अपना सुदर स्वेटर पहने/उसने फिर आज फोन किया/ईडियट ! /सत्रह की लडकी स्वप्न मे किले देखती है ' सत्रह की लडकी को क्या पता कि कस सुबह/जब नीद खुलेगी/तो उसे एक साथ

एक ही दिन में/सब कुछ जानना पड़ेगा' (लड़की), 'मार्क्स और फ्रायड की दाढ़ी/नाचती है हमारे बीच/और हमारी बहस का अंत कितना/कमजोर होता है/कितना बढ़िया रोमांटिक' (बहस के बाद), 'हत्यारी लड़की उन दिनों मुझसे प्यार/करती थी/चाभी के गुच्छे का वजन हिलाती/किताबों पर जमी धूल झाड़ती/किसी पुरानी घड़ी को परखती/हत्यारी लड़की मुझसे रोज/मिलती थी' (हत्यारी लड़की)। मैंने इन कविताओं में कुछ अंश ही दिये हैं और इस तरह उन पर और कवि पर अन्याय ही किया है क्योंकि ये कविताएं पूरा, सजग पाठ मांगती हैं। लेकिन नये किशोरों और युवकों पर लिखी गयी 'मेहमान' एक नये ढंग का आतंक हिंदी कविता में पहली बार लाती है जो हम समझते थे कि सिर्फ 'ए क्लॉकवर्क ऑरेंज' जैसी विदेशी फिल्मों में ही दिखायी पड़ता है— जबकि यह एक नये तरह की 'रैगिंग' है जो एक सुम्पेन, उठाईगीर और उचक्का युवा वर्ग हमारे घर, परिवार और देश के साथ कर रहा है. 'तीन-चार हंसते चेहरे चमकदार/एक दिन अचानक शाम टेलीविज़न के परदे को/फाड़ते हुए/हमारे बीच आ जाते हैं' 'पिता घर में घुस आये/उन लड़कों के खिचड़ी बालों से घबराकर/कब्रस्त में छिप गये हैं'' अंधेरा/घर में पूरी जगह/बना चुका है/ ''हंसते चेहरों के साथ अब हम/बात कैसे करें/कैसे सोयें/बहस का सवाल नहीं/हमारी हंसने की सारी कोशिश/हम रुआंसा किये जा रही है/' विनोद भारद्वाज की यह कविता स्वातन्त्र्योत्तर भारत के इतिहास के एक ऐसे असुविधाजनक परिच्छेद को हमारी आंख खोलकर हमें दिखाती है जिससे हम अपनी कायरता में नजरें चुराये हुए थे।

जबकि 'लड़की' और 'हत्यारी लड़की' एक ही 'थीम' पर लिखी गयी कविताएं हैं, 'टाइप करने वाली' एक अलग तरह की लड़की की कहानी है। यह स्वयं विनोद भारद्वाज की कविताओं में अलग तरह की कविता है—उसमें वह 'डायरेक्टनेस' है जो उनकी बहुत कम कविताओं में है। इसका शिल्प भी एकदम चुस्त है, विलक्षण ढंग से नियन्त्रित, कहीं किसी शब्द की उलझनें नहीं, व्यंग्य भी बिलकुल 'डैड पैन' 'ज्यादातर जो उसने टाइप किया/अन्याय के बारे में था/समाज में औरत की हालत के बारे में था', लड़की समाज के जिस तबके से आयी है उसका बारीक आकलन. 'उंगलियों को चटकाते हुए वह लड़की/कांप जाती थी कि किसी जगह आज/टाइप करने को कहीं 'प्रेम' शब्द न हो', उसकी उपेक्षामय मृत्यु तथा अंतिम दो पंक्तियां 'उस लड़की की कहानी/कभी किसी ने टाइप नहीं की' आने वाले अनेक वर्षों तक इस कविता को प्रासंगिक, स्मरणीय और युवा कवियों के लिए स्पृहणीय बनाये रखेंगी। आदमियों के प्रति गहरा सरोकार, उनके लिए एक ईमानदार करुणा और प्रतिबद्धता, उन पर हो रहे पाखंडपूर्ण अन्याय के प्रति एक गहरा, ठंडा गुस्सा

ही ऐसी कविताए लिखवा सक्ते हैं।

'जलता मकान' मे विनोद भारद्वाज की और भी कई अच्छी कविताए है जिन पर बात होनी चाहिए और मुझे यकीन है कि देर-सबेर उन पर बात होगी। उनकी अनेक कविताओ मे अपने परिवार के चित्र हैं, अपने अकेलेपन, अपनी बीमारियो, अपनी गर्दन की फफद, अपनी कैप्सूलो आदि के ब्यौरे हैं, अपनी कविता और अपने कवि-कर्म पर सोच, शहरो और उनकी कई स्मृतियो, कलाप्रेमी राजाओ, रेजगारी गिनते हुए टपो वालो, ब्रोफवेम वाली 'आजादी' की 'चाट' का सुख लूटने वाले नौजवानो आदि के वैविध्यपूर्ण, अर्थबहुल चित्र हैं। हम सब की पीठो पर सवार ययातियो के वृद्धतत्र (जेरोटोक्रेसी) की भयावह अश्लीलता का सपृक्त चित्र 'फैसला' मे है। इन सब पहलुओ और कविताओ पर बहस के लिए और वक्त, व्यक्ति, और वर्क चाहिए। अच्छी कविता का एक लक्षण यह भी है कि उस पर बात हो चुकने के बाद भी लगे कि अभी कुछ शेष है। विनोद भारद्वाज सरीखे कवियो पर लिखते हुए यह अहसास अतिरिक्त रूप से इसलिए भी होता है कि उनका लीक छोडकर चलना आलोचक को भी कुछ हटकर सोचने के लिए बाध्य करता है—लेकिन यह एक ऐसा महसूल है जिसका अपना मुआवजा भी है।

दोस्तों के बीच

पिछले कुछ वर्षों से 'युवा' और 'युवा कविता' शब्द हिंदी में सिर्फ युवकों और युवकों द्वारा लिखी जा रही कविता के पर्याय नहीं रहे। कभी वे 'नयी कविता' के बाद की पीढ़ी के लिए इस्तेमाल किए गए और कभी वामपंथी तेवर वाली *कविता के लिए या सामान्यतः आदमी से लगाव रखने वाली कविता के लिए*, किंतु 'युवा' शब्द कभी भी केवल उन लोगों का परिचायक नहीं रहा जिन पर यौवन आ चुका हो। देखा जाए तो आजादी के बाद जो पीढ़ियां जवान हुई हैं उनमें से सौभाग्यशाली कुछ को छोड़कर युवा होना क्या होता है यह किसी ने जाना ही नहीं। युवा होने का अर्थ यदि स्वस्थ, चपल, जोखिम पसंद आत्मनिर्भर, निश्चित, स्वतंत्र होता है तो कहा जा सकता है कि पिछले तीस वर्षों में भारत में बहुत कम लोग ही युवा हो पाए होंगे। भारतीय हालात—सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक—किशोरों को सीधा अधेड़ बना देते हैं। युवा होना इस देश के महान् परिवारों का ही हिस्सा है।

किंतु क्या इसका अर्थ यह है कि हमारे बीस से तीस वर्ष के लोगों ने यौवन—उसके सारे या कुछ अर्थों में—देखा और पाया नहीं? हिंदी कविता पर *लगातार सैकड़ों वर्षों तक यौवन का राज्य रहा।* बूढ़े कवि कुश्ते खाते और खिलाते रहे—किंतु छठें दशक से युवावस्था का लोप कैसे हुआ? हालात बद से बदतर होते गए हैं इसमें कोई संदेह नहीं और युवकों का चंद बरस भी जवान रह पाना मुश्किल होता जा रहा है। देश और संसार की हालत कवियों से बहुत पेचीदा मांग कर रही है। लेकिन सारी भयावहता, संकट और लड़ाई के बावजूद क्या यह मान लिया जाए कि गांभीर्य और जुझारू बुजुर्गीयत ओढ़ने के सिवा युवकों के लिए हिंदी कविता में कुछ बचा ही नहीं?

आश्चर्य यह है कि जब आप हिंदी के अधिकांश युवा कवियों से मिलेंगे

तो आप पाएगे कि वे बेहद जीवत, खुश, पुरमजाक, हल्लेबाज, जीवन की अच्छी चीजो के पारखी, सौंदर्य मे गहरी रुचि रखने वाली, शरारती और नितात 'अस्वप्निल', 'अगभीर' है। किंतु कवि-कर्म की कुछ ऐसी दहशत उनमे से अधिकाश पर है कि उनकी कविताए अधिकतर बेहद रस्मी और नक्ली और 'सेल्फ-कान्शस' हो जाती है और जब वे "निजी" होते हैं तो उनमे एक खासा लिरिकल तत्समी घटाटोप होता है ताकि कोई शक न रह जाए कि हमारा विद्रोही कवि प्रेमी होना भी जानता है। आक्रोश से आलिंगन के बीच के सारे पायदान गायब हैं।

इसीलिए अवधेश कुमार के सकलन 'जिप्सी लडकी' की कविताओ को जब मैंने पढ़ा तो मुझे एक खुशी हुई कि उनके लिरिकल लगावो मे परिश्रम या सायासता बिल्कुल नही है। पाठक देखेंगे कि उनके इस सकलन का शीर्षक और उस शीर्षक-खड की कविताए उनके अलग तरह के कवि होने की सूचना देती हैं। 'जिप्सी' शब्द पर कुछ लोगो को एतराज हो सकता है लेकिन 'ईरानी', 'चाकू छुरी वाली' या 'घुमतू' आदि पर्यायो से काम न चलता। 'जिप्सी' शब्द के अग्रेजी म अनेक प्रतीकार्थ भी होते हैं—वह उन्मुक्तता, स्वच्छदता, बेफिक्री, रूढिमुक्तता का भी पर्याय है। अवधेश कुमार देहरादून मे जन्मे और प्रकृति के बहुत नजदीक रहे। इसलिए इसम कुछ अजब नही है कि उनकी कुछ कविताओ मे एक ऐसी जीवनता, स्पदन, खुलापन, ऐंद्रिकता है—यहा तक कि कभी-कभी भावुकता भी—जो उनके समवयस्क अनेक कवियो मे कम ही है। इधर की प्रेम कविताओ मे आप पाएगे कि कवि सब कुछ के बावजूद भी सयत है—उसने स्वय को बह जाने नही दिया है, जबकि अवधेश कुमार की कविता मे कवि कुछ दूर तक तो दीखता है किंतु जब गति और लय तेज होते हैं तो वह खो जाता है—जिस तरह तेज नाचते लोकनर्तक एक हो जाते हैं या मेलो मे झूलने वाले लोग रगो और आह्लादित चीत्कारो की एक फिरकनी ही नजर आते है और उनमे अपने प्रियजनो को ढूढना मुश्किल होता है। अपने युवा होने की इस अतरग दुनिया को अवधेश कुमार ने कभी बहुत कोमलता से छुआ है, जैसे 'मुक्ति एक आद्योपात' मे या 'फडफडाते हुए डूबना' मे और कभी बहुत ऐंद्रिकता से, जैसे 'चीते का प्यार' मे। 'वर्षा मे एक प्रलाप' मे और उससे कही ज्यादा 'दर्द इतना हल्का और चुपचाप' मे वे खतरनाक ढग से भावुकता क नजदीक आ जाते हैं लेकिन आवेग की तीव्रता शब्दो और शिल्प के जागरूक चुनाव के साथ मिलकर कविता को कविता बनाए रहने मे सहायक सिद्ध होती है।

पाठको का ध्यान विशेष रूप से मैं अवधेश कुमार की कविता 'जिप्सी लडकी' की ओर खीचना चाहूगा। अव्वल तो किसी उत्सव का, किसी मेले का ऐसा

स्पंदित चित्र हिंदी मे कभी देखा हो—ऐसा याद नही आता। लेकिन यह सिर्फ एक नयनाभिराम चित्र नही है, इसमे अभावग्रस्त पूरा गाव भी खडा हुआ है। अत्याचार और दमन पहाड की ऊचाइयो तक भी पहुच गया है, नशे मे धुत हवलदार के रूप मे। पर्यटको के लिबास मे शहरी संस्कृति भी वहा पहुच गयी है। वहा खलील जिब्रान भी है—जिब्रान का वहा होना जिस कॉमेडी-गाभीर्य-ट्रेजडी का प्रतीक है यदि उस पर ही लिखने लगें तो बहुत हो जाएगा। बहरहाल, 'सापों', 'इफली', 'खून' आदि के प्रयोग से कविता मे खासी ऐंद्रिकता और हिंसा का प्रवेश होता है किंतु अत मे खलील जिब्रान के साथ बर्फ मे दबी जिप्सी लडकी आपको एक विरेचन-भाव मे छोडती है। इस एक कविता में इतने अलग-अलग और लगभग विरोधी-से तत्त्व काम कर रहे हैं कि इसे लिख ले जाना अवधेश कुमार की सभावनाओं के प्रति आश्वस्त और उत्सुक करता है।

अवधेश कुमार यदि जीवन के शुद्ध 'सेलेब्रेशन' के ही कवि होते तो अपर्याप्त न था क्योकि अपनी ऐसी कविताओ मे वे अपनी पूरी शक्ति से मौजूद हैं और वह सर्जनात्मक ऊर्जा किसी भी तरह की कविता को सार्थक बना ही देती है किंतु उन्होंने लिखा है "मेरी कविता एक साथ बहुत सारी चीजो से प्रभावित है और एक सपूर्ण शब्द मे वह जीवन है। शायद जीवन के प्रति मेरा गहरा लगाव व आस्था ही है, जिसे मैं अपनी कविता के माध्यम से व्यक्त करता हू।" और चूंकि जीवन एक वैविध्यपूर्ण, सघर्षमय, पेचीदा और परिवर्तनशील विराट् है इसलिए स्पष्ट है कि अवधेश कुमार की कविता जहा एक ओर शरीर, अभिलाषा, जय और पराजय के स्तर पर युवा होने की कविता है वहा वह एक छोटे रमणीय स्थान और घर की सुरक्षा—वह जैसी भी रही हो—से निकलकर एक दमनकारी, डरावनी, मानव-विरोधी दुनिया के सामने स्वय को पाने की कविता भी है।

उनकी कविता का यह स्वरूप हमे उनकी 'चिरे हुए आदमी की गध', 'चिंता की जमुहाई', 'रोढ', 'जीवन की शुरुआत', 'भूख की सीमा से बाहर', 'छत पर धरी लालटेन', 'मा की याद', 'बाप रे इस इतने बडे देश मे' आदि रचनाओ मे मिलेगा। इसमे कोई शक नही कि अवधेश कुमार की कविताओं में सीधा सघर्ष, आह्वान, बलवा, क्राति आदि नही हैं। उनके यहा प्रतिबद्धता की आत्ममुग्ध शैली नही है। किंतु "साइक्लि की घटियो का यही मतलब होता था कि/ उन पर बैठा हुआ हर बाबू जिंदगी भर अपने बीवी-बच्चो को अपने दिन भर के तहखानो के भय से/बचाए रखने का सकल्प लेते हुए लौटता था हर शाम" (क्लर्क), "चौतरफा खुली एक आख/चीजो मे खोजबीन करती हुई बारीक/ दिमाग को जगाए रखने के लिए लगाती हुई हाक/बेहद जागी हुई चुनौतियो मे होती शरीक" (चिंता की जमुहाई); "हमने आग जलायी थी सोयी हुई चीजों

को जगाया था/और धीरे-धीरे महसूस किया था अपने जीवन की शुरुआत को" (जीवन की शुरुआत), "वह मणिहीन साप गर्वित है खुद भर अधिनायक की तरह/कि चिडिया को मारता भी नही और उसे भयमुक्त भी नही करता" (छत पर धरी लालटेन), "मिलो दोस्त, जल्दी मिलो/मैं गरीब, तुम गरीब/पर हमारे इरादे गरम" (मिलो दोस्त, जल्दी मिलो), "सविधान की दुनिया मे बचाये रखना है अपने आप को/और एक श्रेष्ठ नागरिक कहलाते रहना है, जब तब/पूरे नही होते अद्भुत स्वप्न मुझ गरीब आदमी के" (बाप रे इस इतने बडे देश म) आदि कविताओ म यह बिलकुल साफ है कि अवधेश कुमार कहा से आते है और उनकी सहानुभूतिया किस तरफ है। और ऐसा नही है कि इनम एक श्रेष्ठतर व्यक्ति की उदारता भरी सहानुभूति है बल्कि आज के जमाने मे जो भी कमजोर लोगो पर हो रहा है वह इनके लिखने वाले पर भी या तो हो रहा है या कभी भी हो सकता है ।

यदि मुझसे पूछा जाए कि आज की कविता मे क्या देखा जाना चाहिए तो मैं कहूगा कि आदमी के अस्तित्व और उसके सामने खडे सारे सकटो को लेकर चिता और प्रतिबद्धता, मानव होने के रोमाचक मामले मे गहरी दिलचस्पी, जीवन और रिश्ता के अनत वैविध्य के प्रति उत्सुकता और इन सबको अपनी भाषा और शैली मे कह पाने की क्षमता । अवधेश कुमार की ये कविताए इन सारी शर्तों को पूरा-पूरा निभाती हो यह न तो जरूरी है और न सभव—किंतु इसम सदेह नही कि इन कविताओ मे इन शर्तों का पूरा-पूरा अहसास है । यह नहीं भूलना है कि अवधेश कुमार एक युवा कवि हैं और उनके सामने देने के लिए एक पूरा काव्य-जीवन पड़ा हुआ है । उनकी प्रारभिक कविताए एक ऐसे सकलन मे प्रकाशित हुई जिसके सपादक की चयन-शक्ति मे हिंदी साहित्य का भरोसा बहुत पहले उठ चुका था इसलिए उसका कोई नामलेवा न रहा । यह अवधेश कुमार की जीवतता का ही प्रमाण है कि वे उस प्रारभिक सदमे को न केवल पचा गए बल्कि उससे मुक्त होकर उन्होने यह सिद्ध कर दिया कि उनमे अपनी मौलिक प्रतिभा है जो इस तरह की घातक दुर्घटना से भी बचकर उभर सकती है । अवधेश कुमार मे इस जीवतता के कई स्तर हैं । उनकी कविताओ को अपना घर, परिवार, मा, कस्बा, जगल, शहर, दोस्त सब याद ही नही हैं, उनकी ओर वे बार-बार लौटते हैं और कुछ समृद्ध ही होते हैं । दोस्तो पर लिखी गयी उनकी दो कविताए इस सग्रह मे हैं—एक तो ऐसा मित्र है जो कई मजिला इमारत मे बैठा हुआ है और उनसे फोन कर लेने को कहता है । और दूसरा ऐसा है जो कवि की तरह ही है—जिससे कवि तुरत मिलना चाहता है । कहने को ये बहुत मामान्य विषय लग सकते हैं लेकिन जो दोस्त और दोस्त मे इतना फर्क कर सकता है वह एक की आमदी और कामदी के

रूप म मृत्यु भी जान सकता है और दूसरे की इसानदोस्ती और दोस्तपरस्ती मे जीवन को भी। चीजो और व्यक्तियो का यह अहसास अवधेश कुमार की कई कविताओ मे मिलेगा—उनकी कविता की दुनिया एक धडकती, बदलती, विकसती दुनिया है।

आज हिंदी मे जो भी युवा कवि और युवा कविताए हैं उनम से वही बचेंगे जिनके पास ऐसी दुनिया, ऐसे लोग और ऐसे अहसास हैं। जाहिर है कि वे युवा कवि अवधेश कुमार के उन्ही दोस्तो मे से होगे जिनसे वे मिलना चाहते हैं—जिनमे वे मिल चुके हैं।

भारतीय कवि होने का तनाव

सीताकांत महापात्र की कविताओं को मूल ओडिया में पढ पाना और समझ सकना निस्सदेह एक अधिक समृद्धकारी अनुभव होता। अच्छा अनुवाद क्या होता है और उसे कैसे किया जाय इसकी लगभग उतनी ही 'थियुरियां' हैं जितने कि अनुवादक हैं। सीताकांत महापात्र सौभाग्यवश एक भारतीय कवि हैं और उत्तर-पूर्वी भारतीय कवि हैं तथा उनकी भाषा ओडिया हिंदी के समान हजारों तत्सम शब्दों का इस्तेमाल लगभग उन्हीं अर्थों में करती है। उनकी कविताओं के हिंदी अनुवाद के आस्वादन को केवल यही सबब आनंददायक नहीं बनाता। सीताकांत का रचना-ससार उस महान् सांस्कृतिक विरासत से उपजा है जो लगभग पूरे भारत के हिस्से में आई है—यह जरूर है कि इस विरासत को हर क्षेत्र ने अपनी प्रतिभा तथा आवश्यकताओं के अनुसार थोड़ा-बहुत रूपांतरित किया है और ओडिशा सरीखे प्राचीन तथा जीवंत अंचल में तो यह होना ही था—और इसलिए सीताकांत की कविता हमारी प्रबुद्धता या काव्य-प्रेम के कारण ही नहीं, बल्कि हमारे सच्चे अर्थों में भारतीय होने के कारण भी हमारे बहुत समीप लगती है और अपरिचित तो बिल्कुल नहीं लगती। यह तो स्पष्ट ही है कि किसी भारतीय भाषा से दूसरी भारतीय भाषा में अनुवाद करना किसी विदेशी भाषा से हिंदी या अन्य किसी भाषा में अनुवाद करने से अपेक्षाकृत सरल है और उस भारतीय भाषा की कविता का अपेक्षाकृत ज्यादा हिस्सा अनुवाद में सुरक्षित बचा पाना संभव है। फिर सीताकांत महापात्र की कविताओं के अनुवादों के संग्रह 'अपनी स्मृति की धरती' में एक अच्छी बात यह भी है (जो शायद विवादास्पद भी समझी जाय) कि ईमानदार अनुवाद होते हुए भी उनका ओडियापन नष्ट नहीं कर दिया गया है।

केवल अनुवाद पढ़कर, एक कवि के केवल कुछ ही अनुवाद पढ़कर तथा

उस कवि की भाषा की कविता की परंपरा तो समकालीन परिदृश्य से लगभग अपरिचित रहकर उसकी कविता पर कुछ लिखना एक जोखिम-भरा तथा उद्दंड कार्य है। अतिशयोक्ति, भावावेश अथवा अभिभावकत्व के खतरे बहुत हैं और उस कवि या उस कविता को अजाने ही नुकसान भी पहुंच सकता है। किंतु जब किसी कवि की कविता आपको इतनी विचलित करे जितनी कि सीताकांत महापात्र के इस अनुवाद की सर्वश्रेष्ठ कविताओं ने मुझे किया तब उन कविताओं पर अपनी व्यक्तिगत प्रतिक्रिया देना जहां शायद उस कवि को अपने तईं ज्यादा व्यवस्थित ढंग से समझने में सहायक हो वहां कई अर्थों में आत्मान्वेषण का भी एक तरीका हो सकता है—उस वक्त और भी ज्यादा कि जब कि लिखने वाला और जिस पर लिखा गया वे दोनों कवि हों—भले ही अलग-अलग भाषाओं में हों किन्तु एक देश में हों और समकालीन हों।

सीताकांत महापात्र के इन अनुवादों को पढ़कर ही, जो उनके अब तक प्रकाशित पांच कविता-संकलनों से लिए गए हैं और लगभग बीस वर्षों की काव्य-यात्रा के अलग-अलग अड्डाओं के परिणाम हैं, यह स्पष्ट हो जाता है कि मूलतः वे *'समाज' के नहीं, बल्कि 'व्यक्ति' के कवि हैं। व्यक्ति के कवि की निगाह अपनी* दूरगामिता नहीं, बल्कि अपने आस-पास, अपने अंतरंग तथा अपने अंतर में बहुत गहरे और बहुत देर तक देख पाने की शक्ति के लिए जानी जाती है। सीताकांत महापात्र की कविता 'समाज को बदल डालो' की सतही कविता नहीं है और न ही वह 'दुनिया में पैदा होकर फंस जाने' की कविता है। सच तो यह है कि सीताकांत महापात्र जैसे विख्यात कवि की कविता जिस बात से हमें सबसे ज्यादा आकृष्ट करती है वह है उसकी निहत्थी मुद्राहीनता। वे न तो मसीहा बनकर ऊंचाइयों से बात करते हैं और न मकोड़ा बनकर उल्टे लेट अपने पैर छटपटाते हैं। उनमें रौद्र, वीर तथा वीभत्स रसों का सुखद अभाव है। ऊपर जब मैंने यह लिखा कि सीताकांत 'व्यक्ति' के कवि हैं तो उसका अर्थ 'व्यक्ति-स्वातंत्र्य' या 'फ्री वर्ल्ड' के कवि से नहीं है। उनका कवि अपने एक 'व्यक्ति' *होने—यानी एक समय, एक परंपरा, एक देश, एक समाज, एक परिवार,* एक भाषा तथा परिस्थितियों के एक समूह में होने—का कवि है और उसे ऐसे अनेकानेक व्यक्तियों का पता है, वह उनसे अनेक प्रकारों तथा स्तरों पर संबद्ध है—उनके जीवन के वैविध्य से जैसे कि अपने जीवन के वैविध्य से—और उसका ऐसा होना उसकी कविता को उन तमाम चीजों से भर देता है जो किसी 'समाज' *के कवि में स्पष्ट दिखाई पड़ती किंतु उसकी कविता में* प्रच्छन्न हो गई हैं या बहुत धीरे-धीरे खुलने वाले स्प्रिंग की तरह कसी हुई होने के कारण छोटी लगती हैं।

सीताकांत महापात्र ने स्वयं कहा है कि कविता उनके लिए दीक्षा या

गहरा अहसास है। तीखा या गहरा अहसास दोनो तरह के कवियो मे होता है—समाज के कवि मे और व्यक्ति के कवि मे भी तथा कुछ कवियो में यह तीखा अहसास उन्हें एक ही समय में दोनो तरह का कवि बनाता है—भारतीय कविता मे इसके एक अन्य अच्छे उदाहरण रघुवीर सहाय हैं—किंतु सीताकात महापात्र स्मृति, कोरी आत्मपरक स्मृति नही अपने होने की सार्थकता के अनुभव, मानवीय करुणा, जिजीविषा, अवसाद, परपरा की प्रवहमानता, दुख और हताशा, अनुभव तथा मानवीय सत्य के वैराट्य के समुख चकित तथा शब्दहीन होने के कवि हैं। यह सूची अपने-आप मे अनेक विरोधाभास लिए हुए है—इसमे सार्थकता, करुणा, जिजीविषा, परपरा का साथ दुख, हताशा तथा शब्द-हीनता दे रहे है। सबसे कम खतरा इसी मे है कि सीताकात महापात्र की कविता को आज के युग मे सवेदनशील भारतीय होने की जटिलता की कविता कहा जाय। और यह कहा ही गया है कि आप जब तक अपने देश और काल के नही हो पाएगे तब तक आप सारे देशा और सारे कालो के भी नही हो जाएगे।

किंतु भारतीयता के क्या माने ? क्या सीताकात 'देश-भक्त' हैं ? क्या वे भारतीय दर्शन और भारतीय सस्कृति के गायक हैं ? क्या वे कविता म भारतीयता के पक्षधर हैं ? यदि ऐसा नही है—जैसा कि नही ही है—तो फिर उनकी भारती-यता के लक्षण क्या है ? सीताकात महापात्र ने महाभारत और श्रीमद्भागवत से बहुत कुछ प्राप्त किया है। किंतु यह प्राप्त करना किसी कार्यक्रम के तहत नही हुआ है। महाभारत और भागवत को उन्होने पढा है यह भी कहना अपर्याप्त लगता है—सच तो यह है कि महाभारत और कृष्ण-कथा उनकी आत्मा—इसलिए उनकी बुद्धि और उनके रक्त मास—मे बस गई हैं। दूसरे लोगो का न जाने क्या मानना है किंतु मेरा विश्वास है कि महाभारत ससार की सबसे बडी पुस्तक है। यह आकस्मिक नही है कि भागवत तथा महाभारत मे कृष्ण का विराट् व्यक्तित्व उभयनिष्ठ है और यह भी आकस्मिक नही है कि सीताकात की प्रतिभा को इन दोनो महान् ग्रथो स इतनी प्रेरणा मिली है। एक दिलचस्प बात यह है कि राम के एकाध हवाले को छोडकर सीताकात की कविता रामकथा से उदासीन है—दरअसल अपने एक-आयामीय आदर्श मे राम आज की जटिल जीवतता के लिए अपर्याप्त है। सीताकात ने महाभारत और भागवत का इस्तेमाल बाहर से नही किया है और उन्हें कुछ प्रतीको मे न्यूनीकृत कर इस या उस विचार को प्रकट करने का साधन नही बनाया है। उन्होने कर्ण, अश्वत्थामा धृतराष्ट्र या सजय आदि जैसे आसान प्रतीको का नही बल्कि कृष्ण द्वारा परिवर्तित कुब्जा, कृष्ण के खुले मुह मे सचराचर देखकर उद्भ्रात यशोदा, हिरण समझकर बूढे कृष्ण को मार डालने वाले शबर जरा आदि के स्वगतो से इन पात्रो तथा घटनाओ को —ये अर्थ तो दिए ही होगे, किंतु अपने आप मे ये

उस कवि की भाषा की कविता की परपरा तो समकालीन परिदृश्य से लगभग अपरिचित रहकर उसकी कविता पर कुछ लिखना एक जोखिम-भरा तथा उद्दड कार्य है। अतिशयोक्ति, भावावेश अथवा अभिभावकत्व के खतरे बहुत हैं और उस कवि या उस कविता को अजाने ही नुकसान भी पहुच सकता है। किंतु जब किसी कवि की कविता आपको इतनी विचलित करे जितनी कि सीताकात महापात्र के इस अनुवाद की सर्वश्रेष्ठ कविताओ ने मुझे किया तब उन कविताओ पर अपनी व्यक्तिगत प्रतिक्रिया देना जहा शायद उस कवि को अपने तई ज्यादा व्यवस्थित ढग से समझने में सहायक हो वहा कई अर्थों मे आत्मान्वेषण का भी एक तरीका हो सकता है—उस वक्त और भी ज्यादा कि जब कि लिखने वाला और जिस पर लिखा गया वे दोनो कवि हो—भले ही अलग-अलग भाषाओ मे हो किन्तु एक देश मे हो और समकालीन हो।

सीताकात महापात्र के इन अनुवादो को पढकर ही, जो उनके अब तक प्रकाशित पाच कविता-सकलनो से लिए गए हैं और लगभग बीस वर्षों की काव्य-यात्रा के अलग-अलग अडावो के परिणाम हैं, यह स्पष्ट हो जाता है कि मूलत. वे 'समाज' के नही, बल्कि 'व्यक्ति' के कवि हैं। व्यक्ति के कवि की निगाह अपनी दूरगामिता नही, बल्कि अपने आस-पास, अपने अतरग तथा अपने अतर मे बहुत गहरे और बहुत देर तक देख पाने की शक्ति के लिए जानी जाती है। सीताकात महापात्र की कविता 'समाज को बदल डालो' की सतही कविता नही है और न ही वह 'दुनिया मे पैदा होकर फस जाने' की कविता है। सच तो यह है कि सीताकात महापात्र जैसे विख्यात कवि की कविता जिस बात से हम सबसे ज्यादा आकृष्ट करती है वह है उसकी निहत्थी मुद्राहीनता। वे न तो मसीहा बनकर ऊचाइयों से बात करते हैं और न मकोडा बनकर उल्टे लेट अपने पैर छटपटाते हैं। उनमे रौद्र, वीर तथा वीभत्स रसो का सुखद अभाव है। ऊपर जब मैंने यह लिखा कि सीताकात व्यक्ति' के कवि हैं तो उसका अर्थ 'व्यक्ति-स्वातत्र्य' या 'फ्री वर्ल्ड' के कवि से नही है। उनका कवि अपने एक 'व्यक्ति' होने—यानी एक समय, एक परपरा, एक देश, एक समाज, एक परिवार, एक भाषा तथा परिस्थितियो के एक समूह मे होने—का कवि है और उसे ऐसे अनेकानेक व्यक्तियो का पता है, वह उनसे अनेक प्रकारो तथा स्तरो पर सबद्ध है—उनके जीवन के वैविध्य से जैसे कि अपने जीवन के वैविध्य से—और उसका ऐसा होना उसकी कविता को उन तमाम चीजो से भर देता है जो किसी 'समाज' के कवि मे स्पष्ट दिखाई पडती किंतु उसकी कविता मे प्रच्छन्न हो गई है या बहुत धीरे-धीरे खुलने वाले स्प्रिंग की तरह कसी हुई होने के कारण छोटी लगती हैं।

सीताकात महापात्र ने स्वय कहा है कि कविता उनके लिए तीखा या

गहरा अहसास है। तीखा या गहरा अहसास दोनों तरह के कवियों में होता है—समाज के कवि में और व्यक्ति के कवि में भी तथा कुछ कवियों में यह तीखा अहसास उन्हें एक ही समय में दोनों तरह का कवि बनाता है—भारतीय कविता में इसके एक अन्य अच्छे उदाहरण रघुवीर सहाय हैं—किंतु सीताकांत महापात्र स्मृति, कोरी आत्मपरक स्मृति नहीं, अपने होने की सार्थकता के अनुभव, मानवीय करुणा, जिजीविषा, अवसाद, परंपरा की प्रवहमानता, दुःख और हताशा, अनुभव तथा मानवीय सत्य के वैराट्य के समक्ष चकित तथा शब्दहीन होने के कवि हैं। यह सूची अपने-आप में अनेक विरोधाभास लिए हुए है—इसमें सार्थकता, करुणा, जिजीविषा, परंपरा का साथ दुःख, हताशा तथा शब्द-हीनता दे रहे हैं। सबसे कम खतरा इसी में है कि सीताकांत महापात्र की कविता को आज के युग में संवेदनशील भारतीय होने की जटिलता की कविता कहा जाय। और यह कहा ही गया है कि आप जब तक अपने देश और काल के नहीं हो पाएँगे तब तक आप सारे देशों और सारे कालों के भी नहीं हो जाएँगे।

किंतु भारतीयता के क्या माने? क्या सीताकांत 'देश-भक्त' हैं? क्या वे भारतीय दर्शन और भारतीय संस्कृति के गायक हैं? क्या वे कविता में भारतीयता के पक्षधर हैं? यदि ऐसा नहीं है—जैसा कि नहीं ही है—तो फिर उनकी भारतीयता के लक्षण क्या हैं? सीताकांत महापात्र ने महाभारत और श्रीमद्भागवत में बहुत कुछ प्राप्त किया है। किंतु यह प्राप्त करना किसी कार्यक्रम के तहत नहीं हुआ है। महाभारत और भागवत को उन्होंने पढ़ा है यह भी कहना अपर्याप्त लगता है—सच तो यह है कि महाभारत और कृष्ण-कथा उनकी आत्मा—इसलिए उनकी बुद्धि और उनके रक्त-मांस—में बस गई हैं। दूसरे लोगों का न जाने क्या मानना है किंतु मेरा विश्वास है कि महाभारत संसार की सबसे बड़ी पुस्तक है। यह आकस्मिक नहीं है कि भागवत तथा महाभारत में कृष्ण का विराट् व्यक्तित्व उपस्थित है और यह भी आकस्मिक नहीं है कि सीताकांत की प्रतिभा को इन दोनों महान् ग्रंथों से इतनी प्रेरणा मिली है। एक दिलचस्प बात यह है कि राम के एकाध हवाले को छोड़कर सीताकांत की कविता रामकथा से उदासीन है—दरअसल अपने एक-आयामीय आदर्श में राम आज की जटिल जीवनता के लिए अपर्याप्त हैं। सीताकांत ने महाभारत और भागवत का इस्तेमाल बाहर से नहीं किया है और उन्हें कुछ प्रतीकों में न्यूनीकृत कर इस या उस विचार को प्रकट करने का साधन नहीं बनाया है। उन्होंने कर्ण, अश्वत्थामा, धृतराष्ट्र या संजय आदि जैसे आसान प्रसंगों का नहीं बल्कि कृष्ण द्वारा परित्यक्त कुब्जा, कृष्ण के खुले मुँह में चराचर देखकर उद्भ्रांत यशोदा, हिरण समझकर बूढ़े कृष्ण को मार डालने वाले शबर जरा आदि के स्वप्नों के इन पात्रों तथा घटनाओं का नये अर्थ तो दिए ही होंगे, किंतु उनके बारे में वे

कविताए महाभारत तथा भागवत की इन घटनाओं को एक नया आलोक तथा आयाम भी देती हैं और आज के कवि के लिए बहुत स्वाभाविक तथा अनिवार्य प्रयास-सी लगती हैं। ग्रीस के कुछ आधुनिक कवियो ने इलियड तथा ओडेसी को पूर्णरूपेण नए ढग से अनूदित करने तथा रचने के प्रयास किये हैं —महाभारत आदि के साथ सफलता और सार्थकता के साथ ऐसा किया जा सकता है सीताकांत की कुछ रचनाए इसका प्रमाण हैं।

किंतु सीताकांत की भारतीयता यदि केवल महाकाव्यो, पुराणो और मिथको के नैसर्गिक तथा मौलिक इस्तेमाल मे ही होती तो वह उन्हे उतना बडा कवि नही बनाती जितने कि वे हैं। जहा उनकी कविता एक ओर भारतीयता के प्राचीन स्रोतो से जुडी हुई है वही वह ओडिसा के जमीन, उसके गाव, जगलो, जनजातियो, कस्बो, नदियो, ओडिसा के आराध्यदेव जगन्नाथ तथा उनकी नगरी पुरी, कोणार्क, ओडिसा के समुद्र-तट, वहा की सीपी, शख, घोघे और केकडो तक को याद रखे हुए है। कुछेक कविताओ मे तो उन्होंने चमत्कार किया है। एक निजी त्रासदीनुमा कथा से होते हुए वे मिथक-सकेतो तक गए हैं और वहा से ठेठ *ओडिसा के रगो, गधो और ध्वनियो तक पहुचे हैं। मैं नही समझता* कि 'घर', 'रोगशय्या', 'सूर्यपूजा' तथा 'तूफान' सरीखी कविताएं बहुत भाषाओ मे लिखी गई हैं या ऐसी कविताए लिखने वाले कवि बहुत सारी भाषाओ मे हैं। सीताकांत की ये जटिल कविताए उन्हे हगरी के विख्यात कवि फेरेंत्स युहास के समकक्ष ला देती हैं। सीताकात की कविताए केवल स्मृतियो ही नही, व्यक्तियो, जगहो, चीजो, घटनाओ से रची-बसी हैं। उनमे धकापेल, शोर-शराबा, ठेलमठेल नही है—किंतु उनका पूरा अहसास है—बल्कि एक स्तरबहुल समाज है—समाज एक भाववाचक या समूहवाचक सज्ञा के चालू समाजशास्त्रीय या राजनीतिशास्त्रीय अमूर्त रूप मे नही बल्कि खुद अपने और अपने लोगो तथा अनेक अलग-अलग लोगो और तत्त्वो से मिलकर जीवत जो बनता है, वह। 'किसी एक शहर के बारे मे', 'इतिहास', 'घर', 'बगीचा', 'रोगशय्या', 'एरोड्रोम', 'कमरा', 'सूर्यपूजा', 'तूफान', 'तुम्हारा गाव', 'मतदान केंद्र मे' आदि कविताए सीताकात के काव्य-ससार के वैविध्य से भरी पडी हैं—उनके शीर्षक ही इस वैविध्य का सकेत देते हैं।

धीरे-धीरे हम उस बिंदु पर सरक आए हैं जहा सीताकात की प्रतिबद्धता की बात की जा सकती है। सीताकात की भारतीयता आज के देशकाल से होती हुई एक सार्वकालिक भारत तक पहुचती है या, इसके विपरीत, यह जानना न तो आसान है और न आवश्यक, किंतु यह कहा जा सकता है कि इन दोनो के बीच विभाजन-रेखा खीचना मुश्किल है क्योकि वे अन्योन्याश्रित लगते है। दरअसल इस सबके पीछे तो उनकी करुणा और जिजीविषा ही है।

सीताकात महापात्र की कविता आदमी के प्रति गहरे अनुराग, अथाह करुणा तथा मानवीय स्थिति की मूलत नासदता के अहसास से उपजे अवसाद की कविता है। यह आदमी वे स्वय भी हैं और दूसरे भी। उनकी करुणा और उनका अवसाद दैन्य, पलायन, वैराग्य भय या मृत्यु की ओर नही ले जाते। उनकी कविता मे किसी कृत्रिम आशा का तूर्यनाद नही है बल्कि एक गहरी आस्था का अनाटकीय कथन है फिर से लौटेगा वह दिन वेद-ध्वनि का/कोयल और सारगी के स्वर का/फिर से लौटेगी करुणा की धारा/होमाग्नि की पूत शिखा, गिरजे की प्रार्थना/मदिरो की घट-ध्वनि, मस्जिदो की नमाज/फिर से खिल उठेगी आदमी की दुनिया/मुस्काएगा उसका पुराना समाज, (इतिहास), 'तुम अगर जानते होते/ओ हमारे गवार लुहार/तोड दो कितने भी खभे/काट दो सारे सपर्क के तार/बिजली बादल के वज्राघात से आकाश को/धकेल दो नीचे/इद्रधनुष और मेघ और सूर्य/फिर एक दिन आएगे जरूर' (तूफान), 'मन होता है कह दू/शब्द से पेट नही भरता/यही कहोगे न तुम/फिर भी अगर किस्मत से दूसरा जनम मिला/तो इन्ही शब्दो से बनाऊगा रेत के घरौंदे/जीवन के धूल भरे रास्ते पर' (मुग्ध इलाके मे)।

यह बताना न होगा कि भाषा, शिल्प, कल्पनाशीलता तथा काव्य-सवेदना के मामले मे सीताकात आज के समर्थतम भारतीय कवियो मे से हैं। काव्य के क्षेत्र मे तो उनकी सफलताए और शक्तिया अपर्याप्त नही हैं, लौकिक क्षेत्र मे भी उनका जीवन सामान्य भारतीय जीवन की अपेक्षा सफल ही कहा जाएगा। किंतु सीताकात की कविता मे आत्म-मोह, आत्म-तृप्ति, आत्माभिनदन, उच्छृखलता या उद्दडता का लेशमात्र भी चिह्न नही है। उल्टे उन्हें आज के युग मे कवि होने तथा कवि-कर्म की विसगति, हास्यास्पदता तथा विफलता का पूरा अहसास है। यह आकस्मिक नही है कि उनकी कई कविताओ मे कवि को विदूषक के रूप म चित्रित किया गया है। यह भी कम महत्वपूर्ण नही है कि यह राजा का पेशेवर मनोरजनकर्ता विदूषक नही है बल्कि सर्कस का जोकर है—जनसमूह के सामने 'अजीब-सा टोपा पहने/जिस पर लगे हैं सीग, सीगो पर लताए/सारा मुह पुता अनेक रगो से/फटा जूता छीट की कमीज पहने/उगा है जैसे पूनम का चाद गधे पर सवार होकर'। दूसरी कविताओ मे उन्होने अपने कवि को लगडे पैरो पर घूमने वाला चक्करभूत और अपने खोल के टूट जाने के भय से डरा हुआ घोघा भी कहा है। जब सीताकात का कवि अपने को जोकर या चक्करभूत या घोघा कहता है तो वह विसगति, विद्रूप या आत्मदया-आत्मपीडा का फैशनेबुल व्यापार नही कर रहा होता बल्कि सब कुछ होते हुए भी अतत एक सवेदनशील आदमी की नियति को रेखाकित करता है और अपनी साफ, भ्रममुक्त दृष्टि का परिचय देता है। सीताकात महापात्र भावनाओ और

शब्दों के इस सतत निर्मम और त्रासद खेल को इतना खेल चुके हैं कि वे इसकी परिणति को जानते हैं। किंतु जो जैसा है वैसा होने के लिए विवश है—सीताकांत सब कुछ जानते हुए शब्दों के आगे समर्पित हैं—और शब्द उनके लिए कभी निरा शब्द नहीं रहा। शब्द उनके लिए क्या कुछ नहीं है यह उनकी 'शब्दों का आकाश', 'हंस', 'यंत्रणा-त्रैराशिक', 'मुग्ध इलाके में' तथा 'नीरवता में कवि' आदि कविताओं से स्पष्ट है। शब्द से उनका द्वंद्वात्मक राग-संबंध है। एक तरफ जहां वे बाकी सब के मजाक बनाने पर कहते हैं 'मन होता है कह दूं/शब्द से पेट नहीं भरता/यही कहोगे न तुम/फिर भी अगर किस्मत से दूसरा जनम मिला/तो इन्हीं शब्दों से बनाऊंगा रेत के घरौंदे/जीवन के धूल भरे रास्ते पर', किंतु यह तो बसाते गधाते भार तमाम लोगों के लिए हुआ—जब वे निपट अकेले होते हैं, अपने शब्दों के बीच और शब्द के सामने, तब वे शब्द की अपर्याप्तता का सामना करते हैं—'शब्द कहां है ?/शब्द कहां है कवि ?/निविडतम और गोपनतम शोक के लिए ?/और इसलिए तुम जानते हो कवि/हरसिंगार झर जाता है/कुछ नहीं कहता, मांगता नहीं शब्द/कुछ कहने को खोजता नहीं शब्द'। भारत और दुनिया में शब्द की असमर्थता का अहसास और शब्द के सामर्थ्य तथा शब्द से ही सरोकार रखने की आस्था—जहां शब्द वह सब कुछ है जिसे 'कला', 'सार्थकता', 'मानव-मूल्य' आदि कहा जाता है—इनके बीच का ही तनाव अक्सर लिखे हुए को कविता बनाता है और सीताकांत में यह तनाव पूरी ईमानदारी तथा तीखेपन से मौजूद है।

आज की भारतीय-अंग्रेजी कविता

१९६३ मे लदन में एक प्रकाशन-गृह हचिंसन द्वारा 'द कसाइज एनसाइक्लोपीडिया ऑफ इग्लिश एड अमेरिकन पोएट्स एड पोएट्री' प्रकाशित किया गया था जिसके सपादक दो प्रसिद्ध कवि, स्टीफन स्पेंडर तथा डोनेल्ड हॉल थे। इस विश्वकोश मे भारतीय-अंग्रेजी कविता पर प्रविष्टि सुप्रसिद्ध बागला कवि, उपन्यासकार तथा आलोचक बुद्धदेव बसु ने लिखी थी। यह टिप्पणी भारतीय-अंग्रेजी कविता के प्रति उदार नही थी और शायद विदेशों मे उसकी वजह से या तो भारतीय-अंग्रेजी कविता का नुकसान हो रहा था या होने की आशका थी क्योंकि कवि-प्रकाशक श्री पी० लाल ने उसे एक चुनौती की तरह लिया और उस पर एक प्रश्नावली तैयार कर अनेक भारतीय-अंग्रेजी कवियो को भेजी और उनके उत्तरो को तथा उनके साथ उनकी कविताओ को—और अन्य अनेक भारतीय-अंग्रेजी कवियों की भी कविताओ को—लगभग ६०० पृष्ठो के एक सचयन के रूप मे प्रकाशित किया। इसमे कुल १३२ कवि थे और इन पक्तियो का लेखक भी अपनी एक दुर्भाग्यपूर्ण अंग्रेजी कविता की वजह से उनमे सम्मिलित था। उसे न तो श्री पी० लाल का कोई पत्र मिला और न बुद्धदेव बसु की टिप्पणी पर आधारित उनकी प्रश्नावली ही, वर्ना उस सचयन मे १३१ कवि ही रहते। बहरहाल भारतीय-अंग्रेजी कविता का यह सबसे दीर्घकाय सकलन है और चूंकि श्री पी० लाल सिर्फ एक बात सिद्ध करना चाहते थे इसलिए उन्होने काव्यगत गुणवत्ता सरीखी वस्तु पर ध्यान कम ही दिया। वैसे भी उनका प्रकाशन गृह 'राइटर्स वर्कशॉप' इतने कवियो के इतने सकलन छाप चुका है कि उसका कोई व्यक्तित्व रह ही नही गया है—यह अवश्य है कि उसने भारतीय भाषाओ से भी कुछ अच्छे अनुवाद प्रकाशित किए हैं।

पी० लाल सरीखे समर्पित तथा उत्साही व्यक्तित्व के होते हुए भी भारत

मे लिखी जा रही अंग्रेजी कविता लगातार विवादग्रस्त रही है। इस विवाद के पीछे शायद कविता के गुण-अवगुण उतने नही हैं जितनी कि स्वय वह भाषा जिसमे वह कविता लिखी जा रही है। यह सत्य है कि अंग्रेजी पिछले दो सौ वर्षों से भारत म व्यवहृत हो रही है किंतु अभी उसे स्वदेशी भाषा का दर्जा नही मिल पाया है। प्रश्न यह नही है कि अंग्रेजी को भारत में दो प्रतिशत लोग लिखते-पढते हैं या पाच प्रतिशत—प्रश्न यह है कि वह भारत मे कितने लोगों की मातृ-भाषा है—हमारी जातीय-स्मृति से उसका क्या लेना-देना है, हमारे सास्कृतिक जीवन में उसकी जड़ें कितनी गहरी हैं। ससार के अन्य देशो मे, जहा अंग्रेजी, *फ्रेंच या स्पैनिश सरीखी औपनिवेशिक भाषाए गई,* वहा दुर्भाग्यवश कोई गहरी सास्कृतिक परपरा थी ही नही, जबकि भारत मे अंग्रेजी का मुकाबला ऐसी भाषाओ से हुआ जो उस समय बन चुकी थी जब यूरोप मे अधकार था। साहित्यो के अनेक युग तब तक भारत मे हो चुके थे। अंग्रेजी इसलिए दरबार-भाषा अथवा सत्ता की भाषा तो बनी रही—अभी भी है—किंतु जन-भाषा बन नही पाई और न कभी बन सकेगी। इस तरह अंग्रेजी के साहित्यकार और अन्य भारतीय भाषाओ के साहित्यकार के बीच एक तनाव हमेशा बना रहता है। अंग्रेजी मे लिखने वाला स्वय को श्रेष्ठतर मानता है क्योकि इतनी अंग्रेजी जानना आदर और ईर्ष्या को जन्म देता है, अंग्रेजी मे लिखी चीज सीधी उच्च वर्ग मे पहुचती-पुजती है उसका सीधा निर्यात होता है। उधर भारतीय भाषाओ का साहित्यकार अपनी जनता और जडो से जुडा हुआ होने का दावा करता है, उसे अपने देश मे ही एक बडा पाठक वर्ग प्राप्त है। अंग्रेजी जानते और उसमे लिखने की क्षमता होते हुए भी वह अंग्रेजी मे लिखने को उठाईगीरी समझता है और वेदो-पुराणो-उपनिषदो-सगमो की हजारो वर्षों की परपरा से जुडे होने पर गर्व करता है। बौद्धिक विचार-विनिमय के स्तर पर भले ही अंग्रेजी और गैर-अंग्रेजी-भारतीय लेखको के बीच परस्पर समझ और आदर तथा मैत्री हो जाए, जब शुद्ध साहित्यिक कृतित्व पर बात आती है तो अंग्रेजी मे लिखने वाले हमेशा अपने को अकेला पाते हैं। देश की छोटी-से छोटी भाषा मे लिखना बुरा नही समझा जाता किंतु अंग्रेजी मे लिखने वाला हमेशा सदिग्ध रहता है। यह केवल गैर-अंग्रेजी भाषाओ के साहित्यकारो की वजह से नही है, अधिकाश अंग्रेजीदा भारतीय भी भारतीय अंग्रेजी साहित्य को गभीरता से नही लेते। हमारे विश्वविद्यालयो म, जहा प्रारभ से ही अंग्रेजी मे एम० ए० की डिग्री दी जा रही है, *भारतीय-अंग्रेजी के लेखको को विशेष सम्मान नही दिया जाता*—एम० ए० के पर्चों मे केवल एक पर्चा भारतीय-अंग्रेजी साहित्य का होता है और वह भी छात्रो मे विशेष लोकप्रिय नही है क्योकि उस पर आलोचनात्मक पुस्तकें और/या कुजिया ठीक-ठीक प्राप्त नही होती। दूसरी ओर बीसवी शताब्दी के

ब्रिटिश और अमरीकी साहित्य के पर्चे पढाने वाले शिक्षक भी ढग के नही मिलते जिसके कारण एक तरफ तो अधिकाश अग्रेजी मे एम० ए० भारतीय छात्र आधुनिक साहित्य से या तो डरे हुए है या उससे घृणा करते है और दूसरी तरफ आधुनिक भारतीय-अग्रेजी साहित्य को तुच्छ समझते हैं। हिंदी की तरह अग्रेजी मे भी सममामयिक साहित्य का सबसे ज्यादा नुकसान हमारे स्कूलो और महाविद्यालयो मे ही हो रहा है।

भारतीय-अग्रेजी साहित्य की इस अस्पृहणीय स्थिति के दो असर उसके रचयिताओ पर हुए है। एक सप्रदाय कहता है कि भारतीय-अग्रेजी एक भारतीय भाषा है, उसका साहित्य भारतीय साहित्य है, वह श्रेष्ठ साहित्य है और जो ऐसा नही मानता वह चाहे तो भाड मे जा सकता है। दूसरा सप्रदाय भी लिखता अग्रेजी मे ही है किंतु उसे एक ऐसी विवशता मानता है जिस पर उसका कोई जोर नही है। उसे इस बात का एहसास है कि भारत मे अग्रेजी एक परपरा-विहीन भाषा है जो विराट् परपराओ वाले कई साहित्यो से घिरी हुई है। दोनो सप्रदायो मे और भी मतभेद हैं किंतु एक बात पर दोनो सहमत है कि अग्रेजी अब भारतीय भाषा हो चुकी है। इसीलिए उन्हे अब 'इडो एग्लियन' या 'इडो-इग्लिश' कहलाने से कोफ्त होती है और वे स्वय को 'इडियन-इग्लिश' या 'इडियन राइटर्स इन इग्लिश' कहलाना ज्यादा पसद करते हैं और जब सचयन आदि के प्रकाशन का सवाल आता है तो स्वय को केवल भारतीय साहित्यकार कहते हैं। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस द्वारा १९७६ मे प्रकाशित और १९७९ मे पुनर्मुद्रित दस भारतीय-अग्रेजी कवियो के सचयन को उसके सपादक आर० पार्थसारथी ने 'टेन ट्वन्टीएथ-सेंचुरी इडियन पोएट्स' (बीसवी सदी के दस भारतीय कवि) शीर्षक दिया है। इसी तरह विकास पब्लिशिंग हाउस द्वारा १९८० मे प्रकाशित सत्रह भारतीय-अग्रेजी कवियो के सचयन को उसके सपादक केकी एन० दारूवाला ने 'टू डिकेड्स ऑफ इडियन पोएट्री १९६०-१९८०' (भारतीय कविता के दो दशक १९६०-१९८०) नाम दिया है। सवाल किया जा सकता है कि यदि तमिल, उर्दू या बाग्ला के ऐसे सचयन अग्रेजी अनुवाद मे प्रकाशित हो तो क्या उनके सपादक उन्हे भारतीय कवि या कविता कहेंगे या तमिल, उर्दू या बाग्ला कवि और कविता ? ज्यादा तर्कसगत और नैतिक क्या होगा ? स्पष्ट है कि इन दोनो सचयनो के सपादक 'अग्रेजी' शब्द से कतराते हैं—बार-बार 'इडियन-इग्लिश पोएट' या 'इडियन पोएट्री इन इग्लिश' लिखना असुविधाजनक तो है ही। मुझे इसी लेख मे बार-बार भारतीय-अग्रेजी भद्दा लग रहा है। हिंदी मे उसका क्या बनाया जाए यह समझ मे नही आ रहा है किंतु अग्रेजी मे इग्लिश के हिज्जो को 'ई' की जगह से 'आइ' से लिखकर बखूबी 'इडियन-इग्लिश' का अर्थ प्रकट किया जा सकता है। इससे पहले कि हम विषय

से पूर्णरूपेण भटक जाए हमें उपरोक्त दो सम्प्रदायों पर लौटना चाहिए। केकी दारूवाला पी० लाल की तरह भारतीय-अंग्रेजी कविता का बीड़ा उठाने वाले जन-सम्पर्क अधिकारी तो नहीं हैं किंतु वे "भारत में 'अंग्रेजी' में लिखने वाले भारतीय के 'अस्मिता के संकट' " को आलोचकों पर ही छोड़ देना चाहते हैं क्योंकि वह उन्हीं का मुख्य आहार है। इसी तरह वे अपने संचयन में ली गई कविताओं की 'भारतीयता' या उनमें प्रतिबिंबित संवेदनशीलता की 'भारतीयता' पर जोर नहीं देना चाहते क्योंकि उनकी ऐसी धारणा है कि दो दशकों की बढ़िया कविता के बाद उसे तो मानकर ही चलना चाहिए। पार्थसारथी में यह आत्म-विश्वास नहीं है, वे जानते हैं कि समसामयिक भारतीय-अंग्रेजी कविता भारत की आजादी के बाद ही शुरू होती है। एक बात पर दारूवाला और पार्थसारथी दोनों सहमत हैं कि यह नया दौर निस्सिम एजेकिएल से प्रारंभ होता है। किंतु पार्थसारथी भारत के अंग्रेजी कवि की समस्याओं को पहचानते से लगते हैं। वे जानते हैं कि जो भारतीय साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए अंग्रेजी का इस्तेमाल करता है वह कुछ हद तक अजनबी महसूस करता है। उसका विकास थम थम कर होता है। इस वजह से ऐसा कोई परिप्रेक्ष्य ही नहीं है जिसमें उसका मूल्यांकन हो। वे यह महसूस करते हैं कि अंग्रेजी-भाषी देशों के काव्य मुहावरे और भारतीय-अंग्रेजी के काव्य-मुहावरे के बीच अंतराल कम भले हो जाए, समाप्त कभी नहीं हो सकता। और इससे भी बड़ी बात तो यह है, जिसे दारूवाला भी स्वीकार करते हैं, कि विशिष्ट भारतीय-अंग्रेजी मुहावरे सरीखी कोई चीज विकसित नहीं हो पाई है। अफ्रीका वेस्ट इंडीज तथा काले अमरीका ने जिस तरह अपनी-अपनी जीवंत अंग्रेजी का निर्माण किया है वैसा भारत में असंभव है क्योंकि मूल भारतीय भाषाएं स्वयं इतनी विकसित हैं और उनमें इतना सशक्त साहित्य है कि अखिल भारतीय अंग्रेजी शैली या शब्द-भंडार जैसी कोई वस्तु बनाई ही नहीं जा सकती। यदि भारतीय-अंग्रेजी कवि अपनी भारतीयता का बार-बार प्रदर्शन करता है तो वह इसलिए कि उसके सामने अस्मिता का संकट हमेशा मुंह खोले खड़ा है। इस कविता की राष्ट्रीय अस्मिता अनुपस्थित है। उपयुक्त और निजी भाषा भी बहुत कम कवियों को मिल सकी है किंतु कोई भी कवि अंग्रेजी भाषा को न तो समृद्ध कर सका है और न उसे कोई भारतीयता दे पाया है। आम तौर पर गलत सलत बोली जाने वाली हास्यास्पद भारतीय अंग्रेजी को कविता में इस्तेमाल करने के छुट-पुट प्रयत्न हुए हैं किंतु वे महज मखौल बनकर रह गए हैं। समस्या यह है कि खिचड़ी-अंग्रेजी या बटलर-इंग्लिश भी भारत की बोलचाल की भाषा नहीं है कि उसका ही कोई सर्जनात्मक इस्तेमाल किया जा सके। पार्थसारथी अंग्रेजी को विदेशी भाषा ही मानते हैं किंतु इसे एक फायदे की तरह मानते हैं—चूंकि

इसके शब्दो के कोई भारतीय सदर्भ हैं ही नही इसलिए उन्हे ज्यादा सही और सफाई से इस्तेमाल किया जा सकता है। पार्थसारथी एक ऐसी बात भी कहते हैं जिसे कहने के लिए बहुत बडा कलेजा तथा ईमानदारी चाहिए और जिससे उनके अधिकाश सहधर्मी सहमत नही होगे—वह यह कि भारतीय कविता के समूचे सदर्भ मे अग्रेजी मे लिखने वाले कवियो का योगदान सिर्फ हाशिए भर का है और उसके ऐसे बने रहने की सभावना है। किंतु वे इस योगदान को सार्वजनिक, मानवीय अनुभव की औचित्यपूर्ण अभिव्यक्ति के रूप मे महत्त्वपूर्ण मानते हैं।

दारूवाला की दृष्टि इतनी निर्लिप्त और निर्मम नही है किंतु भारत मे अग्रेजी कवि की भाषायी विपन्नता को वे भी स्वीकार करते है और कमोबेश पार्थसारथी को दुहराते-से लगते हैं। वे मानते हैं कि अग्रेजी कभी भी भारत के आम आदमी की भाषा नही बन सकी किंतु इसका दोष औपनिवेशिक अफसरशाही को देते है जबकि तथ्य यह है कि अफसरशाही के कारण ही अग्रेजी भारत मे इतनी गहरी जड़ें जमा सकी। दारूवाला जानते है कि जमाइका, घाना या अमरीका के काले कवियो की अग्रेजी कविता मे उन देशो का सगीत या आदिम मादल सुना जा सकता है, भारत की अग्रेजी कविता मे वैसा कुछ भी सुन पाना असभव है। उसकी भाषा क्लासिकी शब्दकोशो की अधसडी सब्जी की खाद से उगा एक सकर फूल है। ऐसे उद्‌गारो के पीछे छिपे क्रोध, कुठा और खीझ बेहद नासद हैं।

जहा पार्थसारथी की स्पष्ट स्वीकारोक्ति और कुछ हद तक दारूवाला का वैफल्य-भाव भारतीय-अग्रेजी कविता के पाठक मे थोडी सहानुभूति जगाते हैं वहा दारूवाला का भारतीय-अग्रेजी कवि के गुणो का बखान कुछ हास्य और कुछ दया उपजाता है। वे उसे विनम्र और सीमित आकाक्षाओ वाला बताते है और कहते है कि उसमे दक्षिण या केन्द्रीय अमरीका के कवियो जैसा विस्फार नही है। यदि दारूवाला का इशारा नेरुदा पारा, वाय्येखो, बोर्खेस, पाथ, थियोडोर रैथके, रैंडल जैरल, विलियम कार्लोस विलियम्स, गिंसबर्ग, वैलेस स्टीवेंस, रॉबर्ट लॉवेल की तरफ है तो इस तुलना का मतलब ही क्या है? वे कहते है कि भारतीय-अग्रेजी कवि की कविता उसके अपने आस पास, उसकी छोटी आकाक्षाओ, उसके सीमित उडान वाले स्वप्नो तक ही सीमित है। कविता उसके लिए व्यक्तिगत इगित है, सामाजिक या राजनीतिक हरकत नही। वह ज्यादातर आत्मकथात्मक है। उसके सरोकार सकीर्ण हो सकते हैं किंतु बेकार वे नही हैं। दारूवाला कहते है कि भारतीय-अग्रेजी कविता रुग्ण नही है और उसका कारण यह है कि भारतीय समाज (तुलनात्मक रूप से) रुग्ण नही है। हमारे देश मे नशीले पदार्थो, तलाक, शराबखोरी का चलन तथा नैतिक मूल्यो

सारथी, गीव पटेल तथा ए० के० रामानुजन होंगे। दिलीप चित्रे इसलिए नहीं होंगे कि अभी उनकी अंग्रेजी कवि की तस्वीर मराठी कवि की तस्वीर के आगे उभरी नहीं है, गौरी देशपांडे और यूनिस डिसूजा इसलिए नहीं होंगी कि एक में धार नहीं है तो दूसरी बेहद गोअन रोमन कैथलिक है, केर्सी डी० कात्रक, देव पटनायक और सलीम पीरादीना इसलिए नहीं होंगे कि उनमें या तो बहुत ज्यादा शब्द हैं या वे शैलीग्रस्त हैं या वह कहते हैं जो दूसरे बेहतर कह रहे हैं, और शिव के० कुमार सिर्फ इसीलिए नहीं होंगे कि उन्हें कवि कहना उनके साथ अन्याय करना होगा।

यहां यह स्पष्ट कर देना होगा कि जब जी० एस० शरतचंद्र से रामानुजन तक उपरोक्त ग्यारह कवियों को अन्य भारतीय-अंग्रेजी कवियों से अलग किया जाता है तो इसका अर्थ यह कतई नहीं होता कि ये कवि विश्व की अंग्रेजी कविता की चर्चा करते समय भी उल्लेख्य माने जाएंगे। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि भारतीय भाषाओं की कविता पर विचार करते समय इन्हें भी महत्त्वपूर्ण कवियों में रखा ही जाएगा। जिन्हें पिछले बीस वर्षों की हिंदी, बाङ्ला, मराठी, गुजराती, ओड़िया या कन्नड़ आदि कविताओं की थोड़ी-सी भी जानकारी है वे जानते हैं कि इन भाषाओं की कविता भारतीय कविता को ही नहीं बल्कि विश्व कविता को समृद्ध कर रही है। भारतीय-अंग्रेजी कविता के बारे में चाहकर भी ऐसा नहीं कहा जा सकता। विश्व स्तर पर अंग्रेजी कविता की जब बात होती है तो किसी भी भारतीय-अंग्रेजी कवि का नाम बरबस याद नहीं आता। और भारतीय कविता के संदर्भ में भी उनका नाम लिया जाना कुछ विचित्र लगता है। किंतु रामानुजन, मेहरोत्रा, एजेकिएल और महापात्र जैसे कवियों का अंग्रेजी का इस्तेमाल काफी सृजनात्मक है। जहां रामानुजन और एजेकिएल भाषा को संयत रखते हैं तथा बचत के साथ उसका इस्तेमाल करते हैं, औरअधिकांश भारतीय-अंग्रेजी कवि यही करते हैं, वहां मेहरोत्रा उसका लगभग जादुई प्रयोग करने में सक्षम हैं। जयंत महापात्र के यहां भी भाषा का खासा ऐंद्रिय इस्तेमाल है। अधिकांश भारतीय-अंग्रेजी कवि यदि एक बचत की भाषा अपनाते हैं तो इसीलिए नहीं कि वह उनकी अपनी शैली है बल्कि इसलिए कि वे ऐसे माध्यम में काम कर रहे हैं जो उनकी कल्पना और आवेगों की उड़ान को सीमित कर देता है। कमला दास सरीखी बहुचर्चित कवयित्री में भी भाषा का वह उन्माद नहीं है जो सिल्विया प्लेथ में था किंतु यह अवश्य कहना होगा कि कमला दास, गौरी देशपांडे या यूनिस डिसूजा सरीखी कवयित्रियां अन्य भारतीय भाषाओं में लगभग नहीं हैं—हिंदी में महादेवी वर्मा और सुभद्राकुमारी चौहान के बाद कोई पढ़ने लायक कवयित्री हुई ही नहीं। अंग्रेजी का प्रयोग भारतीय कवयित्री को ज्यादा शक्ति क्यों और कैसे देता है यह

एक दिलचस्प शोध हो सकता है। बहरहाल, इन कवियो मे जयत महापात्र अपने देश और अचल से सर्वाधिक जीवत सपर्क बनाए दीखते हैं जबकि अपने इतिहास और सस्कृति की गहरी स्मृतिया रामानुजन मे सर्वाधिक दिखाई देती हैं। जगहो और स्मृतियो मे लौटना लगभग सारे भारतीय अग्रेजी कवियो का स्थायीभाव लगता है—यह नही है कि अन्य भारतीय कवि ऐसा नही करते किंतु भारतीय-अग्रेजी कवियों के साथ यह लगभग एक रूढि बन चुका है और इसलिए कुछ प्रदर्शनवादी और कृत्रिम-सा लगने लगता है। भारतीय होने, एक अन्य मातृभाषा वाला होने, भारत मे भी हिंदू न होकर पारसी या ईसाई होने, अलग-अलग सस्कृतियो मे जडे होने, भारत से बाहर बसकर भी यूरोपी या अमरीकी न हो पाने आदि की भावनाए भारतीय-अग्रेजी कविता की कतिपय रीतियां हैं। अपनी जाति, भारतीय जाति-प्रथा, भारतीय या हिंदू सयुक्त परिवार, अपना शेष या शहर, सगे-सबधी, रीति रिवाज, श्मशान और मृत्यु आदि इस कविता मे अलग-अलग रूपो मे आते रहते हैं।

ये कवि इस तरह अपनी व्यक्तिगत, पारिवारिक या क्षेत्रीय तस्वीर तो बना पाते हैं किंतु पूरे भारतीय समाज या समूची भारतीय नियति से इनका कोई सबध नही लगता। इन कविताओ को पढकर इस देश के भयावह सघर्षों और हालात का कोई पता नही चलता—आम आदमी की बात तो बहुत दूर रही, स्वय अपने वर्ग यानी मध्य वर्ग को लेकर भी इस कविता की दृष्टि और पहुच दुर्भाग्यपूर्ण ढग से सतही है। इसका अधिकतर समय वर्णन करने के बारीक काम मे जाता है किंतु यह वर्णन करना भी ऐसा है कि उसमे कोई सामाजिक, राजनीतिक या नैतिक परिणाम नही निकलते। जीवन से कटकर कोई भी सार्थक कविता लिखना असभव है और समसामयिक भारत मे तो और भी ज्यादा किंतु भारतीय-अग्रेजी कवि के पास न तो वे सरोकार हैं, न वह भाषा और न वे क्षमताए जो उसकी कविता को इस देश के करोडो भूखे, नगे, शोषित और सघर्षरत लोगो की नियति से जोड सकें। इस कविता से जो मूल्य निसृत होते हैं वे मध्यवर्गीय उदारतावादी साहित्य सगीत-कला प्रेमी समाज के मूल्य हैं जिसने धुरी खबर या तो सुनी नही है या सुनने से इकार कर दिया है। बुद्धिमान साहित्य-सगीत-कला प्रेमियो द्वारा एक अजनबी माध्यम मे रचित कृतिया जिस तरह की होती हैं, जितने दूर तक कारगर होती हैं, जिस तरह का नैपुण्य और लाघव प्राप्त कर सकती हैं, उतना यह कविता प्राप्त कर सकी है।

समसामयिक भारतीय-अग्रेजी कविता के बारे मे एक अतिम तथ्य विस्मय लग सकता है, किंतु उसका कारण भी समझ मे आ जाता है, कि यद्यपि उसके वरिष्ठतम कवि निस्सिम एजेकिएल (१९२४) अभी भी लिख रहे हैं और उल्लेख्य युवतम कवि अरविंद कृष्ण महरोत्रा (१९४७) केवल पैंतीस वर्ष के हैं, पिछले

देखो देखो आठवें दशक का उजाड़
उर्फ
बक गया हूं जुनून में क्या-क्या

इस शताब्दी की प्रासंगिक हिंदी कविता छायावाद से शुरू होती है। हिंदी कविता के छ-सात सौ वर्षों के इतिहास मे छायावाद अपने ढंग की शायद पहली घटना है जब कुछ कवि एक-दूसरे के अस्तित्व और रुझानों से अवगत, साथ-साथ कुछ लिख रहे थे, एक-दूसरे को पढ रहे थे और कविता तथा अपनी कविता के लिए एक जमीन बना रहे थे। छायावाद के बाद एक छोटा-सा अंतराल प्रगतिवाद का रहा। बहुत क्षीण प्रगतिवादी धारा 'तार-सप्तक' मे भी दिखाई देती है और उसके बाद भी कुछ दूर जाती है किंतु हिंदी कविता प्रगतिवाद को पूरी तरह से अपना नही सकी—कारण जो भी रहे हो। 'तार-सप्तक' को आज पढकर कुछ विचित्र लगता है—उसका प्रत्येक कवि छायावाद की महान् प्रतिभाओ के आगे बहुत कमजोर पडता है। आज 'तार-सप्तक' की एक भी कविता को आप बतौर सिर्फ कविता नही पढना चाहेंगे। 'तार-सप्तक' के कवियो के पास थोडा-बहुत नया ज्ञान और सोच था किंतु उनम से अधिकाश के पास नई भाषा नही थी। जिस तथाकथित 'प्रयोगवाद' की शुरुआत 'तार-सप्तक' से मानी जाती है वह निराला की कुछ ही बीहड कविताओ के आगे थोथा मालूम पडता है। शमशेर उस समय ज्यादा प्रयोगधर्मा और 'आधुनिक' कविताए लिख रहे होंगे तथा मुक्तिबोध ज्यादा खुरदरी और प्रतिबद्ध, किंतु शमशेर 'तार-सप्तक' मे लिए नही गए और मुक्तिबोध की कविताओ का चयन दुर्भाग्यपूर्ण रहा। यह हिंदी मे व्याप्त निरक्षरता का ही परिणाम है कि 'तार-सप्तक' को पढा नही गया—उसके पीछे जो मुद्दा थी उसे ही सब-कुछ मान लिया गया और उसी पर ले-दे होती रही। बहरहाल 'तार-सप्तक' की अकारण विवादास्पदता से जो वातावरण बना उसने हिंदी को उसके पहले समसामयिक कवि दिए। 'सीढियो पर धूप म' की रचनाओ को यदि प्रमाण माना जाए तो रघुवीर सहाय हिंदी

भारतीय ज्ञानपीठ से, जिसके प्रकाशन के लिए उत्तरदायी थे उस समय के एकदम युवा कवि-आलोचक अशोक वाजपेयी और जिसकी एक भूमिका लिखी श्रीकांत वर्मा ने। इनमें से कोई भी न उस समय रूढ अर्थों में प्रगतिवादी था और न आज है। महत्त्वपूर्ण यह है कि मुक्तिबोध की कविता में शक्ति तो हमेशा से थी किंतु १९६४ में उसके प्रकाशन से पूर्व उनसे पहले प्रकाशित (यद्यपि उनसे कहीं कनिष्ठ) कवियों के मानवीय लगाव और गहरी समझ ने उसके विस्फोटक प्रादुर्भाव की पीठिका तैयार कर ली थी। जिन मानवीय लगावों के गहनाते जाने की बात ऊपर की गई है उन्हीं के कारण हिंदी कविता के सातवें दशक में एक और प्रतिभा का जन्म हुआ। कुछ गीतकारिता और कुछ अकविता के प्रभाव से मुक्त होते हुए धूमिल ने अपनी कविता में गहरी, जुझारू देसी मानवीय संवेदना का इस्तेमाल किया जो मुक्तिबोध की लोमहर्षक फंतासी और प्रखर बौद्धिकता की जमीन से अलग बिल्कुल आस-पास की जानी-पहचानी दुनिया से जुड़ती है। यहां यह न भुलाया जाय कि मुक्तिबोध और धूमिल की कविता 'खालिस' प्रगतिशील या मार्क्सवादी कविता नहीं है—कोई भी सार्थक कविता शुद्ध इसवादी या उसवादी नहीं हो सकती—किंतु वह बेहद प्रतिबद्ध कविता है और अक्सर इतनी है कि एक प्रकट प्रतिबद्धता को छोड़ प्रतिबद्ध होने की तमाम दूसरी संभावनाओं को निर्वासित कर देती है और एकांगी बन जाने का खतरा उठाने लगती है। यह एक अलग चर्चा का विषय है कि किस तरह चालाक या मूर्ख आलोचक इन दोनों कवियों का इस्तेमाल सारी दूसरी सार्थक कविता को नष्ट करने के लिए कर रहे हैं। मुक्तिबोध और धूमिल अपनी रचनाओं में इतने प्रखर हैं कि अपने बाद आने वाले सिर्फ असमर्थ कवियों पर ही अपना असर छोड़ गए हैं--जिन परवर्ती कवियों को अपने खुद के औजार हासिल हैं वे जागरूकता और सार्थकता के साथ धूमिल तथा मुक्तिबोध के साथ होते हुए भी उनसे अलग हैं और अपने सृजन में उनकी सीमितता तथा एकांगिता को कम करते हैं।

पिछले पैंतीस वर्षों का जायजा लिया जाए तो 'तार-सप्तक' के सात कवियों में से चार निहायत कमजोर कवि थे— अज्ञेय', नेमिचन्द्र जैन, गिरिजाकुमार माथुर और रामविलास शर्मा। कमजोर प्रभाकर माचवे भी कम नहीं थे किंतु अपनी अटपटी भाषा और शिल्प में फिर भी अलग थे, भले ही वहां उनका स्थायीभाव सतहीपन मौजूद रहा हो। भारतभूषण अग्रवाल और मुक्तिबोध में जो चिनगारी थी—भारतजी में मुक्तिबोध के मुकाबले बहुत कम—वह दोनों को उनकी जीवन-लीला समाप्त होते-होते एक दमक दे गई। इसके बाद कवियों की वह पीढ़ी आई जिसके शीर्ष पर रघुवीर सहाय अब भी हैं और जिसके कुछ नामों का उल्लेख ऊपर किया गया है। इस पीढ़ी के ही केदारनाथ सिंह की

कविता ने अचानक पिछले वर्षों अपनी विलक्षण पहचान बनाई है। इसके बाद एक तरफ तो मुक्तिबोध हैं और दूसरी तरफ धूमिल, चंद्रकांत देवताले, सौमित्र मोहन, विनोद शुक्ल, लीलाधर जगूड़ी, मलयज, राजकमल चौधरी, ऋतुराज आदि महत्त्वपूर्ण कवि हैं। सातवें दशक में उभरी इस पीढ़ी ने हिंदी कविता को एक विविधता तथा व्यापकता दी और कहा जा सकता है कि यह पीढ़ी आधुनिक हिंदी कविता के घनत्व तथा स्थायित्व को रेखांकित करती है। इन कवियों के पास अपनी मौलिक मानवीयता के साथ-साथ इतने अलग-अलग स्वभाव, शब्द तथा शिल्प हैं कि आज के प्रत्येक प्रकार के जागरूक पाठक को इनमें काफी दूर तक संतोष मिल सकता है। आज की यह हिंदी कविता इसीलिए विश्व की किसी भी कविता के समानांतर निस्संकोच रखी जा सकती है—रखी जा रही है और धीरे-धीरे स्वीकृत हो रही है।

किंतु पांचवें दशक से प्राप्त एक विपन्न-सी विरासत को छठें दशक में जिस तरह रघुवीर सहाय, कुंवरनारायण, श्रीकांत वर्मा, केदारनाथ सिंह आदि ने संपन्न किया और सातवें दशक में अंत तक धूमिल, देवताले, सौमित्र आदि की कविता ने जिसे नई समृद्धि दी, क्या आज आठवें दशक के अंतिम वर्ष में यह कहा जा सकता है कि उसमें पिछले दशक के कवियों से आगे भी पठनीय कवि निकले? जरूरी नहीं कि हर दशक में कवियों की एक नई खेप आए किंतु दस वर्षों में एक भी शक्तिवंत नहीं तो कम-से-कम अलग तरह का ही एक उल्लेखनीय कवि आए यह तो उम्मीद की ही जा सकती थी।

लेकिन जो नहीं होना था वह नहीं हुआ। सच तो यह है कि सातवें दशक के अंत में जो युवा कवि उभर रहे थे वे भी दुर्भाग्यपूर्ण विस्मृति को प्राप्त हुए। १९७० के आस-पास मंगलेश डबराल, आलोकधन्वा, ज्ञानेंद्रपति आदि की रचनाओं से एक नई उम्मीद बंधी थी। इनमें से ज्ञानेंद्रपति के एक छोटे-से संकलन को ख्याति भी प्राप्त हुई और वे लगातार लिख और छाप भी रहे हैं किंतु यह विश्वासपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि 'पहचान' में प्रकाशन के बाद उनकी कविता आगे बढ़ी है—वैसे क्या कम है कि वह पीछे भी नहीं गई है। मंगलेश डबराल और आलोकधन्वा अपनी प्रारंभिक चमक के बाद पता नहीं अब क्यों पीले से पड़ गए हैं। दो अन्य कवियों—कुमार विकल और पंकज सिंह—का उल्लेख भी अनुचित न होगा जो सातवें दशक तक चर्चित हो चले थे किंतु अपना कितना स्थान बना पाए, अभी कहना कठिन है। इस दुखद प्रसंग के पीछे एक कारण शायद यह भी हो कि सातवें दशक में लघु पत्रिकाओं के विस्फोट *के बाद प्रकाशित हो जाना और एक निहायत नकली सामग्री लेकर के चलते* इंस्टेंट ख्याति पा लेना इतना आसान और आम हो गया है कि युवा रचनाकार को लगता है कि उसे करने और पाने के लिए अब और बचा ही क्या है।

भारतीय साम्यवादी आदोलन मे पडी पिछले वर्षों की फूट, नक्सलवाडी आदोलन तथा साम्यवादी पार्टियो के विभाजन ने सातवें दशक के मध्य से हिंदी कविता पर असर डालना शुरू किया। विभिन्न प्रकार की वामपथी गतिविधिया अचानक बहुत बढी और राष्ट्रीय स्तर पर आदर्शवादी भावुक नवयुवको ने बडी सख्या मे उनमे हिस्सा लिया। आदर्शों और भावनाओ का क्या हुआ यह कहना कठिन है किंतु भारत का साम्यवादी आदोलन आज जितना दिग्भ्रमित, विभाजित तथा नैतिक सकट से ग्रस्त है उतना वह पहले कभी नही था। वह अपने सरलीकरणों, विरोधाभासा तथा दकियानूसी का शिकार हो चुका है। ये सारे तत्त्व उससे प्रभावित साहित्य म दृष्टिगोचर हो रहे हैं। आठवा दशक आते-आते हिंदी म यह स्पष्ट हो चुका था कि आगामी कुछ वर्ष उन लोगा के लिए चुनौती के हाग जो अपना चितन स्वय करना चाहते हैं। उठाईगीर विसडावादियो की एक बडी जमात अपनी अधकचरी प्रतिबद्धता' के नाम पर घटिया चिंतन, साहित्य तथा आलोचना को थोपने की सगठित कोशिश कर रही है। दिमागी काहिली, अवसरवादिता, कुत्सित प्रगतिशीलता तथा खालिस जहालत का यह स्वण-युग है। मसखरा द्वारा प्रकाशित पत्रिकाए और उनके बुलाए गए लेखक सम्मेलन इस शताब्दी द्वारा उघाडे गए सारे तथ्यो पर पर्दा डालते हुए, सारे विश्व मे प्रगतिशीलता तथा प्रतिबद्धता के नए सोच की उपेक्षा करते हुए निरर्थक 'साहित्य', 'साहित्यकार' और 'आलोचको' को प्रोमोट कर रहे हैं। नाम गिनाने की आवश्यकता नही, कोई भी तथाकथित 'वामपथी' पत्रिका उठा लीजिए, उसमे वही नाम बजबजा रहे हैं—वही १६२० के आस-पास की विचारधारा, चीजो को आधा पढने और चौथाई से भी कम समझने के कारण उपजी उद्भ्रांति, लबे लबे अपठनीय लेख, खराब कविताए और कहानिया, इस या उस लेखक सम्मेलन की अहोरूप महोध्वनि रपटें—यानी प्रत्येक पृष्ठ पर दुर्निवार निरक्षरता तथा बुद्धि विरोध। किसी भी समय मे बहुतायत तो खराब 'लेखकों' की ही रहती है लेकिन इस नव प्रगतिवाद के पडाल मे नितात प्रतिभाशून्यो की एक भीड कवि हो रही है, आलोचक हो रही है, किताबें छपा रही है और एक दूसरे को युग-प्रवर्तक सिद्ध कर रही है।

इसमे कोई शक नही कि आठवें दशक की यह भीड एक महत्त्वपूर्ण विरेचक काम कर रही है—साहित्य और साहित्यकारा मे जो भी निरर्थक है उसे लगातार मच दे रही है। मजा यह है कि आज जब चारो ओर घटिया साहित्य की भरमार है, निकृष्ट और अच्छे के बीच पहचान भी आसान हो गई है। जो अभी भी अपने बलबूते पर लिख सकते हैं वे बेफिक्र हैं लेकिन इस भगदड मे यदि कोई सभावनाओं वाली प्रतिभा कुचल दी गई तो हिंदी के लिए दुर्भाग्य की बात होगी। किंतु वहा भी शायद यह खतरा न हो क्योकि जिस प्रतिभा मे सभावना

होती है वह भीड मे फस भले ही जाए, कुचली नही जाती और भटकाव के बावजूद भी साहित्य की सार्थक धारा उसे पा लेती है।

'लुई बोनापार्त की अठारहवी ब्रूमैर' के पहले ही वाक्य म मार्क्स ने कहा है, 'हेगेल कही कहता है कि विश्व इतिहास मे सारे बडे महत्त्व की घटनाए तथा व्यक्तित्व मानो दो बार घटित होते हैं। वह यह कहना भूल गया पहली बार त्रासदी के रूप मे और दूसरी बार भडैती के रूप मे।" हेगेल और मार्क्स का यह सम्मिलित जुमला एक अमोघ सिद्धात न हो किंतु हिंदी के प्रगतिशील आदोलन पर यह ठीक ही उतरता दीखता है। प्रगतिशील कविता के पहले दौर मे छद्म तथा बुद्धि-विरोध बिल्कुल नही था यह तो नही कहा जा सकता (बल्कि प्रगतिशील आदोलन की विशिष्ट मस्तिष्कहीनता के दुर्दांत प्रतीक रामविलास शर्मा तब से अब तक हिंदी साहित्य पर पर्याप्त अत्याचार कर चुके है) किंतु अपनी व्यापक 'नाईव' आस्था और ईमानदारी के कारण उसका असफल हो जाना हिंदी की एक करुण घटना होकर रह गया। उसके बरक्स आज की अधिकाश तथाकथित जनवादी कविता और जनवादी हरकतें एक अराजक लूटमार हैं। हर्ष इस बात का है कि हिंदी म अब भी जो सार्थक बचा हुआ है वह इस बटमारी मे शामिल नही हैं। सच तो यह है कि आज की विचार-शत्रुता को देखते हुए तो 'कलावादी', 'रूपवादी', 'प्रगतिविरोधी', 'मार्क्सविरोधी' करार दिया जाना शुभ लक्षण है और हर सोचने वाले को ऐसे विशेषण अर्जित करने की कोशिश करनी चाहिए। आज जो भी यह महसूस करता है कि उसके लिखे हुए मे आज के जीवन के वैविध्य, जटिलता और सघर्ष का कम-से-कम एक हिस्सा तो हो उसे अपने सृजन के एकात मोर्चे के अतिरिक्त अर्थगर्भा अज्ञेयता की सुसस्कृत, रगीन पत्रिकाओ की अश्लील, तथा कुत्सित प्रगतिवादियो की मताध ऐसी क्रमश वध्या, फूहड और मतिमद क्लेरिटी म पडने की लालच से मुकाबला करना होता है। एक स्कूल उन लोगा का भी है जो कल तक प्रगति विरोधी थे किंतु जो आज प्रतिबद्धता की बॉक्स-ऑफिस सफलता को देखकर अचानक बकरी से तेंदुए हो गए हैं। इस चतुर्मुख सर्वरस से सामना करना कठिन भी नही है—जो सृजन अपनी गहरी आतरिक प्रतिबद्धता की शर्तों पर निर्भीक अपने रास्ते चला जा रहा है उसे देखकर गुर्राते हुए भी इसका मद विभ्रमित लागूलचालन जारी रहता है क्योकि इसे अतत अपने भावी पराभव, आत्म समर्पण या पूर्णरूपेण विस्मृत कर दिए जाने की नियति का पूरा अनुमान रहता ही है।

यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि आठवें दशक को चालाक 'मीडियाकरो' के विराट् विस्फोट के रूप मे याद किया जाना लगभग निश्चित है। लूटपाट की जो मिली-भगत पूरे देश मे मची हुई है वैसी ही स्थिति आज हिंदी मे भी है। नितात

निर्लज्जता से पत्रकारिता, आलोचना तथा रचनाधर्मिता के सारे सयमो को तोड डाला गया है और इसकी पूरी छूट है कि जो जिसके हाथ जितनी जल्दी लगे लेता बने। 'धर्मयुग' 'प्रगतिवादियो' को गालिया देता है और वे 'धर्मयुग' को, और 'नया प्रतीक' अपनी पाखडपूर्ण ऊचाई से दोनो पर नाक चढाता है किंतु अपने-अपने गिरोहो मे तीनो का चरित्र हूबहू एक जैसा है। 'चौथा सप्तक' तक पहुचते-पहुचते अज्ञेय ने लज्जाहीनता से भक्तो के अपने चालाक इस्तेमाल को निर्वसन कर दिया है और इस तरह तीनो पिछले सप्तको पर भी एक प्रश्नचिह्न लगा दिया है। भारत के अन्य किसी साहित्य मे या विश्व-साहित्य म कही ऐसी स्थिति हो या न हो, हिंदी मे इस समय सोडोम और गोमोरा के अतिचारो जैसा दृश्य उपस्थित है।

पिछली कुछ शताब्दियो से हमारे देश के चरित्र का एक पक्ष सारी पैनी विचारधाराओ को कुद बना देने का और तीक्ष्ण व्यक्तित्वो को उनके जीते-जी या मृत्योपरात पालतू, पौरुषहीन तथा महान् दिखाकर देवपक्ति मे प्रतिस्थापित कर प्रभावशून्य बना देने का रहा है। सोच की गभीर परपरा तो हमारे यहा कभी की चल बसी, क्योकि चितन के लिए मस्तिष्क की आवश्यकता पडती है। अपनी बेदिमागी का सबसे ज्यादा फायदा आज का भारतीय होहल्ले-बाज 'मार्क्सवादी' उठा रहा है। तथाकथित 'मार्क्सवादी' देशो म क्या हुआ और क्या हो रहा है—शेष विश्व मे मार्क्सवाद का क्या हुआ—विश्व के कतिपय महानतम बुद्धिजीवी मार्क्सवाद के किस सोच पर पहुचे हैं—आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और वैज्ञानिक दुनिया कहा-से-कहा पहुच गई है—इससे भला हमारे सर्वज्ञ मार्क्सवादियो को क्या लेना देना। वे ऐसे सिद्धात साहित्य पर थोप रहे है और ऐसे साहित्य को एकमात्र सही साहित्य कह रहे हैं जिन्हे रूस और अब चीन मे भी न सिद्धात माना जा रहा है और न साहित्य। दरअसल भारत में मार्क्सवाद अपने जाहिल अनुयायियो द्वारा ही सर्वाधिक विकृत किया जा रहा है। प्रतिबद्धता और प्रगतिशीलता के इन पडो का व्यक्तिगत, सामाजिक तथा साहित्यिक जीवन-चरित्र उजागर है—शहरो मे रहते हुए इनके बारे मे न जानना असभव है। कहा-कहा घुसने और वहा से क्या-क्या पाने के लिए ये क्या कुछ नही किए दे रहे हैं यह ज्यादा देर तक छिपा नही रहता। 'धर्मयुग' और 'नया प्रतीक' आदि से तो सब वर्षों से परिचित है किंतु जिस वर्ग को क्रातिकारी तथा आदर्शवादी समझा जा रहा हो जब उसका मतलबपरस्त, जोडतोडवादी और कैरियरिस्ट पक्ष उजागर हो जाता है तब पुन समझ मे आ जाता है कि जिसे एक स्वाभिमानी प्रतिबद्ध रचनाकार अपनी जमीन समझता है उस पर उसका अकेला और निहत्था खडा रहना ही उसे बचाएगा—उसे वाकई अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाने होंगे। जो लोग आठवें दशक मे प्रगतिशीलता के इस पुनर्पदार्पण

को प्रतिबद्धता का स्वर्ण-युग मान रहे हों जिसमे पिछले प्रगतिशील आदोलन की गलतियों को सुधारा जाएगा और पिछले प्रगतिशीलो का सही मूल्यांकन तथा सम्मान किया जाएगा। वे इस भयावह तथ्य को भूल रहे हैं कि पिछले प्रगतिशील आदोलन मे बुद्धिवैर कम था और साहित्य तथा मार्क्सवाद की समझ ज्यादा— 'प्रतिबद्धता' का झडा लेकर जो प्रच्छन्न फासिस्ट साहित्य मे आज उत्पात कर रहे हैं वे सही साहित्य के साथ स्तालिनपथी सुलूक ही करेंगे यह असदिग्ध है।

दरअसल जब से कलाओ के क्षेत्र मे प्रतिबद्धता की बात उठाई जाने लगी है तब से प्रतिभासपन्न सर्जको का सीधा सघर्ष प्रतिबद्धता के स्वनिर्वाचित ठेकेदारो से होने लगा है। किसी भी युग मे बहुमत कमतर प्रतिभाओ या प्रतिभा-शून्यों का होता है। एक दूसरा दुखद तथ्य यह है कि प्रतिभा का बटवारा आदमियो मे बराबर नही हो सकता। कलाओं के क्षेत्र मे काम करने वाला प्रत्येक व्यक्ति यदि अपनी प्रतिभा की सीमाओ को पहचान ले तो कलाए अचानक समृद्धतर हो उठेंगी। किंतु ऐसा होता कहा है। जिनके हिस्से चालाकी आई है वे कभी नैतिकता, कभी धर्म, कभी देश, कभी सस्कृति और कभी विचारधारा का आश्रय प्रतिभा का नामोनिशान मिटा देने के लिए लेते रहे है। मार्क्सवाद और प्रतिबद्धता के अधिकाश भाष्यकार अपने बौद्धिक आलस्य मे मानव स्थिति तथा कलाओ के जटिल व्यापार को समझने से इन्कार कर देते हैं और फिर देह के लिए कपडे को नही बल्कि कपडे के लिए देह को काटना शुरू कर देते हैं। हिंदी मे आज मार्क्सवाद को सार्थक साहित्य के विरुद्ध षड्यत्र तथा मोर्चेबदी के रूप मे इस्तेमाल किया जा रहा है—जो विचारधारा हमेशा इतिहास से सीखती आई है उसे रूढ बनाकर एक वध्या नैतिकता की तरह लागू करने के प्रयास हो रहे हैं। आत्मालोचन, सशय, पीडा, पश्चाताप आदि से परे आत्ममुग्ध अतिवादियो का एक गिरोह मूल्याकन की किसी भी तथ्यपरक तथा तर्कसगत दुनिया से परे लेबलवादी उच्छृखलता को प्रतिबद्धता समझ रहा है तथा घुघचियो को तापते हुए पचतत्री बदरो की तरह कुछ और समझना भी नही चाहता।

कुछ ईमानदार प्रतिबद्ध मार्क्सवादी होगे अवश्य, हैं, जो आज के विश्व की समूची वास्तविकता के बरक्स मार्क्सवाद के स्वप्नो और विरोधाभासो की तकलीफ से गुजरते हुए अपनी प्रतिबद्धता और समझ की लौ को बुझने नही दे रहे होगे। वे इस आपाधापी, षड्यत्र, मताधता यूफोरिया और दिमागी दिवालिएपन से दूर राह बनाने की कोशिश कर रहे होंगे। उनकी बात यहा नही हो रही है। बचकाने मार्क्सवाद की गिरफ्त से वे भी बच नही पाएगे।

बीसवी सदी की हिंदी कविता के आठवें दशक पर छाया हुआ सकट अभी और गहराएगा या छितराएगा—क्या यह नवें दशक पर भी मडराता रहेगा

या उससे संघर्ष कर कुछ सही प्रतिभाएं उभरेंगी—यह कहना कठिन है। यह अवश्य कहा जा सकता है कि आठवें दशक की अधिकांश कविता तथा उसके मूल्यांकन को यह पर्याप्त भ्रष्ट कर चुका है। भाषा की अर्थवत्ता को नष्ट कर देने की पूरी कोशिश हुई है। सौभाग्यवश जब ऐसी कोशिशें पराकाष्ठा पर पहुंच जाती हैं तब द्वंद्वात्मक प्रक्रिया के फलस्वरूप एक सही, सशक्त तथा अनियोजित अभिव्यक्तिगत विरोध का प्रारंभ भी होता है। किसी भी देश की प्रतिभा को पूर्णरूपेण नष्ट कर देना तो अमानुषिकतम तानाशाहियों तक के बस की बात नहीं है, छद्म प्रतिबद्धता उसके प्रादुर्भाव के आगे हमेशा पलायन कर जाएगी। भाषा और साहित्य का प्रदूषण हुआ है और देश की प्रतिभा भ्रष्ट हुई है किंतु एक ताकतवर 'नहीं' दूषित वातावरण को स्वस्थ बनाने में दूर तक कारगर होती है। हिंदी में अभी भी ऐसे ईमानदार, जोखिमपसंद लोग मौजूद हैं जो सशक्त (अर्थगर्भ नहीं) मौन में किए गए अपने सृजन में लगातार इस प्रदूषण को नकार रहे हैं। वे अपनी प्रतिबद्धता, मानव-प्रेम, और अन्याय के प्रति अपनी घृणा के वास्ते न तो स्वयं को बधाई देते हैं और न आदमी को अभय दान। वे साहित्य में उसका मुआवजा नहीं वसूलते। मैं समझता हूं आज हिंदी में पंद्रह-बीस ऐसे कवि हैं और शायद इससे कुछ ही कम आलोचक। विचारहीनता और कुटिलता के विरुद्ध यह एक बहुत बड़ी संख्या है। यदि नवें दशक में हिंदी कविता और आलोचना पर से मार्क्स और प्रतिबद्धता के भ्रष्ट पठन और भाष्य का यह संकट टला और आठवें दशक में हुई क्षति की पूर्ति करती हुई नई प्रतिभाएं उभरीं, जो शायद विनय धीकर, अनंत मिश्र, राजेश जोशी, असद जैदी आदि में अभिव्यक्ति पा रही हैं, तो उसके पीछे उनकी अपनी मौलिक ऊर्जा तो होगी ही, निर्भीक सर्जकों तथा आलोचकों की इस छोटी-सी किंतु कारगर टुकड़ी का अनायास योगदान भी होगा।

